स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन 2013

BIHAR YOGA

गीता दर्शन

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

गीता दर्शन

योग सिद्धान्त भाष्य



WORLD YOGA CONVENTION 2013
GANGA DARSHAN, MUNGER, BIHAR, INDIA
23rd–27th October 2013

गीता दर्शन

योग सिद्धान्त भाष्य

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती



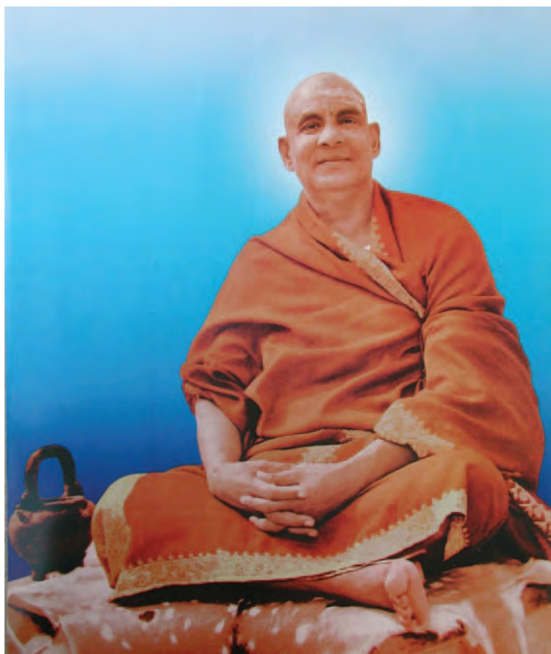
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा *प्रथम प्रकाशन 2012*
पुनर्मुद्रण 2012

ISBN: 978-93-81620-09-0

प्रकाशक एवं वितरक—योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,
मुंगेर, बिहार, भारत
मुद्रक—थॉमसन प्रेस (इंडिया) लिमिटेड,
नई दिल्ली

वेबसाइट: www.biharyoga.net
www.rikhiapeeth.net



सविनय समर्पण

स्वामी शिवानन्द सरस्वती के चरणों में
जिन्होंने स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को योग के रहस्यों की शिक्षा दी



नमो नारायण

योगविद्या भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन-पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। जब से भारत में योग विद्या का ह्रास हुआ, तभी से भारतवासी गरीब, दुःखी और अस्वस्थ हैं। पूजा-पाठ, धर्म-कर्म से शान्ति मिलती है और योगाभ्यास से धन-धान्य, समृद्धि और स्वास्थ्य। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
रिखियापीठ, 2005



प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

आज तक संसार में गीता जैसा कोई ग्रन्थ नहीं पाया गया है। पाश्चात्य तथा पूर्वी सभ्यता, दोनों ने ही इसे अपूर्व ज्ञान का भण्डार माना है। श्रीमद्भगवद्गीता की विचारधारा का मनुष्य जीवन में अपना एक विशेष महत्त्व, एक विशेष स्थान है। भारतीय दर्शनों और शास्त्रों में 18 गीताओं का उल्लेख किया गया है, लेकिन इन सभी गीताओं में श्रेष्ठ है श्रीमद्भगवद्गीता। यही एक गीता है जिसका उपदेश साक्षात् श्रीहरि ने अपने एक शिष्य को, जिसका नाम अर्जुन था, एक विशेष परिस्थिति में युद्धभूमि के मध्य दिया था। महाभारत के भीष्म पर्व में इस श्रीमद्भगवद्गीता का उल्लेख आता है।

गीता शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की 'गय्' धातु से होती है, जिसका अर्थ होता है गाना। सामान्य रूप से गीता का अर्थ है, 'आत्मा का उद्गार'। जब मनुष्य एक उच्च कोटि के अनुभव को प्राप्त करता है, तब उसके भीतर की प्रफुल्लता, उसके भीतर का आनन्द एक गान या श्लोक के रूप में प्रकट होता है। इतिहास में ऐसे अनेक वर्णन आए हैं, जैसे, बालक ध्रुव का वर्णन। जब तपस्या के बाद उसे भगवान् नारायण का दर्शन होता है तब उसकी वाणी अवरुद्ध हो जाती है, कुछ बोल नहीं पाता, तब भगवान् अपने शंख से ध्रुव के मुख का स्पर्श करते हैं, और स्पर्श करते ही ध्रुव के मुख से अनायास ही अनेक मन्त्र, स्तोत्र, छंद और श्लोक प्रकट होने लगते हैं।

ये श्लोक बुद्धि के स्तर से प्रकट नहीं होते। जब आत्मा के भीतर आनन्द की अनुभूति व्याप्त हो जाती है, प्रफुल्लता का आभास होता है, तब उस आनन्द, उस चैतन्यता की अभिव्यक्ति मन्त्रों के द्वारा होती है। मन्त्र मनुष्य के जीवन में उस अवस्था में प्रकट होते हैं, जब मन अपनी सभी सीमाओं को तोड़ कर, सभी बन्धनों को पार कर आत्मिक अवस्था का अनुभव करता है। मन्त्रों की परिभाषा में कहा गया है – *'मननात् त्रायते इति मन्त्रः'* – वह शक्ति जो मन को उसके बन्धनों से स्वतन्त्र कर सके मन्त्र कहलाती है।

मन्त्रों का प्रयोग मनुष्य जीवन में अनेक रूपों में होता है। मन्त्रों का एक प्रयोग होता है अपने मन की सीमाओं और बन्धनों को तोड़ने के लिये। और जब ये बन्धन टूट जाते हैं, तब मानव मन का विस्तार होता है, वह एक उच्च आध्यात्मिक अवस्था में अपने आपको स्थित कर देता है। उस समय फिर उस अवस्था की अभिव्यक्ति मन्त्रों के द्वारा होती है।

गीता में निस्सन्देह भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद है, लेकिन वह संवाद किसी भौतिक विचारधारा को लेकर नहीं, बल्कि एक आध्यात्मिक विचारधारा को लेकर हुआ है। इस संवाद से अर्जुन को क्या प्राप्त हुआ? यह गीता के अन्तिम श्लोक में बतलाया गया है। विभूति, विजय और श्री की प्राप्ति। इसीलिये गीता को आत्मा का उद्गार मानना चाहिये, तभी गीता के नाम के महत्त्व को समझ पायेंगे।

भारतीय दर्शनों में गीता का बड़ा महत्त्व है। सनातन या वैदिक परम्परा में और विशेषकर संन्यासियों के जीवन में एक अवस्था आती है जब उन्हें प्रस्थानत्रयी की साधना करनी होती है। प्रस्थानत्रयी का अर्थ होता है तीन ग्रन्थों का अध्ययन करना और उनमें निहित शिक्षाओं को आत्मसात् करना। ये तीन ग्रन्थ हैं – ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीता। ब्रह्मसूत्र महर्षि बादरायण द्वारा रचित ब्रह्मविद्या से सम्बन्धित एक ग्रंथ है, जिसमें ब्रह्म के बारे में जिज्ञासा व्यक्त की गयी है। दूसरा ग्रन्थ है उपनिषद्। उपनिषद् के अनेक खण्ड हैं। कुछ उपनिषदों को वैष्णव उपनिषद् मानते हैं, कुछ को संन्यास उपनिषद्, कुछ को शैव उपनिषद् तथा कुछ को शाक्त उपनिषद्। लेकिन इन उपनिषदों में जो शिक्षा दी गयी है, वह है आत्म-सम्बन्धी शिक्षा – मनुष्य किस प्रकार अपने जीवन को देख पायेगा, समझ पायेगा, दैव के अनुरूप बना पायेगा, प्रकृति के नियम के अनुसार चल पायेगा और इसके साथ-ही-साथ अपने भीतर एक उच्च आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत कर पायेगा। तीसरा

ग्रन्थ है श्रीमद्भगवद्गीता, जिसके महत्त्व की जानकारी हमें अपने अध्ययन के दौरान मिलेगी।

भारतीय दर्शन में यह माना गया है कि मनुष्य का जीवन, जिसको अभी हम शरीर, बुद्धि, भावना, कर्मों, संस्कारों और बन्धनों के रूप में अनुभव करते हैं, केवल इतने तक सीमित नहीं है। मनुष्य जीवन की अनुभूतियाँ अनन्त हैं, और अनुभूति को प्राप्त करने का क्षेत्र है मनुष्य की चेतना। चेतना के अनेक स्तर होते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान ने चेतना को चेतन, अवचेतन तथा अचेतन अवस्थाओं के रूप में समझाया है। मनोविज्ञान मानता है कि मनुष्य चेतन अवस्था के मात्र एक अंश का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, जितनी उसकी बुद्धि और सजगता की सीमा हो, उससे अधिक नहीं। लेकिन इस चेतन अवस्था के भी ऐसे आयाम हैं जिनके बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकती है और उन पर शासन किया जा सकता है। अवचेतन के बारे में मनोविज्ञान मात्र कुछ विचारों को व्यक्त करता है, लेकिन उन्हें समझा नहीं पाता, जान नहीं पाता। अचेतन के बारे में मनोविज्ञान कहता है कि यह एक अवस्था है, लेकिन इसका प्रयोजन जान नहीं पाता।

जब से विश्व में भारतीय दर्शनों का प्रचार हुआ है तब से विश्व में मनोवैज्ञानिक चेतना के एक चौथे आयाम को भी स्वीकार करने लगे हैं। वह चौथा आयाम है पराचेतन। भारतीय दर्शनों में सूत्र रूप में चेतना की विभिन्न अवस्थाओं की चर्चा की गयी है – जाग्रत अवस्था, स्वप्न अवस्था, निद्रावस्था और तुरीयावस्था।

आजकल भले ही लोग जागृति, स्वप्न, निद्रा और तुरीया का तात्पर्य अपने दैनिक अनुभवों से लगायें, लेकिन इनकी व्याख्या यहीं तक सीमित नहीं रहती। जाग्रत का अर्थ होता है पूर्ण चेतनता। इसका तात्पर्य अभी जगे हुए की अवस्था से नहीं, क्योंकि अभी की इस जगी हुई अवस्था में भी हम बहुत से अनुभवों, बहुत-सी परिस्थितियों के प्रति पूर्ण रूप से अचेत हैं, उनसे अनभिज्ञ हैं। योग दर्शनों में जिस जाग्रत अवस्था की चर्चा की जाती है, वह पूर्ण चेतनता की अवस्था है, जहाँ बुद्धि के प्रकाश में मनुष्य अपने सभी कर्मों को, अनुभवों को देख और समझ सके तथा अपनी शक्तियों का समुचित उपयोग कर सके। जाग्रत है स्थूल और स्वप्न अवस्था है सूक्ष्म। सूक्ष्म क्रियाओं के प्रति सजग होना और सूक्ष्म अवस्था पर पूर्ण नियन्त्रण का होना, इन्हीं विचार बिन्दुओं से योग दर्शन की शुरुआत होती है।

जब महर्षि पतञ्जलि कहते हैं, *'अथ योग: अनुशासनम्'* तब उनका संकेत इसी ओर रहता है। अनुशासन का मतलब अपने ऊपर थोपी गयी कोई दिनचर्या नहीं है। 'शासन' का मतलब होता है राज्य करना। और यहाँ पर जो 'अनु' उपसर्ग लगा हुआ है, उसका मतलब है सूक्ष्मावस्था, आण्विक क्षेत्र, जो सूक्ष्म भी है और कारण भी। जीवन की, चेतना की, व्यक्तित्व की स्थूल अवस्था के साथ-साथ सूक्ष्म और कारण अवस्था पर भी मनुष्य का नियन्त्रण होना चाहिए, शासन होना चाहिए।

जब महर्षि पतञ्जलि से पूछा जाता है कि इस अनुशासन को प्राप्त करने के बाद क्या होगा, तब वे कहते हैं – अनुशासन, अर्थात् नियन्त्रण की स्थिति, शासन की स्थिति, जिसे योग कहते हैं, उस योग के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है – *'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:।'*

पहले उन्होंने चर्चा की पूर्ण अनुशासन की – स्थूल, सूक्ष्म और कारण। फिर स्थूल, सूक्ष्म और कारण अवस्था के नियन्त्रण को उन्होंने एक नाम दिया 'योग'। इस सर्वसंयम की अवस्था को – संयम जो सभी अवस्थाओं में, सभी स्तरों में लागू होता है, 'योग' कहते हैं। इस योग के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। यहाँ उन्होंने चित्त शब्द का प्रयोग किया है। चित्तवृत्ति का स्थान हमारे जीवन में कहाँ पर है? भौतिक जीवन में हमें समाधि पर्यन्त बुद्धि और इन्द्रियों के अधीन होकर काम करना पड़ता है, क्योंकि शरीर का अपना एक गुण है, बुद्धि का अपना एक गुण है, सीमा है और अभिव्यक्ति के रूप हैं। समाधि तक हर अवस्था में मनुष्य इन्हीं क्षमताओं को व्यक्त करता है, और जब बुद्धि, मन, अहंकार या इन्द्रियों की क्षमता शरीर और मन के माध्यम से प्रकट होती है, तब क्रिया और प्रतिक्रिया दोनों ही उत्पन्न होती हैं। क्रिया और प्रतिक्रिया को ही चित्तवृत्ति के नाम से सम्बोधित किया गया है।

क्रिया केवल इन्द्रियों से नहीं, शरीर से नहीं, बल्कि मन, बुद्धि, भावना और अहंकार से भी होती है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म क्षेत्र में, स्थूल-से-स्थूल अवस्था में और कारण-से-कारण क्षेत्र में क्रिया का सृजन होता है, क्रिया के साथ एक प्रतिक्रिया भी उत्पन्न होती है। इसको कहा गया है चित्तवृत्ति। चित्तवृत्तियों का निरोध पूर्ण अनुशासन के द्वारा संभव है।

महर्षि पतञ्जलि से फिर पूछा जाता है कि चित्तवृत्ति निरोध के पश्चात् क्या होता है। तब वे तीसरे सूत्र में समझाते हैं – *'तदा द्रष्टु:स्वरूपेऽवस्थानम्।'* द्रष्टा याने साधक। जिस व्यक्ति ने श्रम किया हो, योग को सिद्ध किया हो,

जो अपने आपका साक्षी बना हो, जिसने चित्तवृत्तियों को नियंत्रण में किया हो, जिसने क्रिया और प्रतिक्रिया को ज्ञान के क्षेत्र में लाकर उन्हें सन्तुलित किया है, वह है द्रष्टा, साधक। साधक या द्रष्टा चित्तवृत्ति निरोध के बाद अपने वास्तविक स्वरूप में स्वयं को स्थित करता है। यह वास्तविक स्वरूप है किसका, या है क्या?

मनुष्य के वास्तविक स्वरूप को भारतीय दर्शनों ने एक नाम दिया है – ब्राह्मी चेतना। ब्राह्मी चेतना को समझने के लिये आप सबसे पहले ब्रह्म शब्द को ही समझें। ब्रह्म शब्द संस्कृत के 'बृह्' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है विस्तार होना। जो विज्ञान क्रम-विकास के सिद्धान्त को मानता है, वह ब्रह्म की व्याख्या को भी स्वीकार करता है। ब्रह्म का मतलब आकाश में स्थित कोई देवता नहीं, ब्रह्म चेतना की एक ऐसी अवस्था का नाम है या द्योतक है, जो निरन्तर विकासशील है, और इस विकासशील अवस्था को क्रम-विकास का सिद्धान्त कहा गया है। ब्रह्म या ब्राह्मी चेतना, चेतना का एक उच्च स्वरूप है, एक अवस्था है, एक क्रिया है, एक स्पन्दन है, एक गति है। यह गति, यह स्पन्दन मानवाधीन नहीं है। यह मनुष्यों के समस्त पुरुषार्थों के परे है। इसके नियन्ता हैं ईश्वर, भगवान् या प्रभु, आप जो भी नाम देना चाहें।

चेतना हमेशा विकास-क्रम से गुजरती रहती है। अपने जीवन में हम लोग भौतिक विकास का अनुभव कर सकते हैं। हमने ज्ञानार्जन किया। पहले हम अज्ञानी थे – गणित के विषय में जानकारी नहीं थी, गणित की किताब पढ़ी, गणित की शिक्षा पायी और गणित के बारे में ज्ञानवर्धन हुआ। तो, चेतना की मूढ़ अवस्था में परिवर्तन हुआ। ज्ञान प्राप्ति के साथ चेतना के अनुभव में परिवर्तन हुआ, चेतना के अभिव्यक्तिकरण में परिवर्तन हुआ, उसको कहते हैं विकास। आपने आज तक भौतिक शिक्षा के द्वारा अपने बौद्धिक स्तर का ही विकास किया है, लेकिन ब्राह्मी चेतना का मतलब होता है, अपने भीतर की उच्च, गुप्त, रहस्यमयी अवस्था का भी विकास, जिसके द्वारा आप केवल अपने जीवन के या अपने सीमित संसार के ही अनुभवों को नहीं, बल्कि व्यापक ब्रह्माण्ड के अनुभव को भी ग्रहण करें, जानें-समझें और अन्त में पूर्णता प्राप्त करें। पूर्णता को प्राप्त करने की विधि या पूर्णता को प्राप्त करने के क्रम में विशेष ज्ञान की जिस अवस्था का अनुभव होता है, उसको कहते हैं ब्राह्मी चेतना।

प्रस्थानत्रयी के तीन ग्रन्थों – ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् तथा श्रीमद्भगवद्गीता में बतायी गयी साधना द्वारा हम अपनी चेतना को संसार के अनुभवों से ऊपर

उठाकर व्यापक, अनन्त, ब्रह्माण्डीय चेतना और ज्ञान का अनुभव करते हैं। इन तीनों में गीता को श्रेष्ठ माना गया है। श्रेष्ठ कौन किससे है, यह तो नहीं कह सकते और कहना भी नहीं चाहिए, क्योंकि हर एक का अपना-अपना स्थान और महत्त्व है। किन्तु गीता को *'उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे'* कहा गया है, अर्थात् गीता के ज्ञान में ब्रह्म विद्या, ब्रह्मसूत्रों, उपनिषदों और योग शास्त्रों का ज्ञान छिपा हुआ है।

अब रही बात कि गीता जैसे महान् शास्त्र को कैसे समझा जाए, क्योंकि जितने व्याख्याकार या भाष्यकार हुए हैं, जितने भी लोगों ने गीता पर अपने विचार व्यक्त किए हैं, वे गीता के सन्देश को पूरी तरह समझ नहीं पाये हैं। संसार में एक ही व्यक्ति ने गीता को जाना-समझा है और आत्मसात् किया है। और उस व्यक्ति ने ही गीता का सन्देश अर्जुन को दिया था। श्रीकृष्ण के बाद कोई दूसरा व्यक्ति गीता को समझ नहीं पाया, न किसी को समझा पाया। चाहे वह कोई संत हो, कोई विद्वान् हो। हमारी स्पष्ट मान्यता है कि अगर कोई व्यक्ति गीता के बतलाये गये मार्ग पर चले तो उसे निस्संदेह आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। गीता में सात सौ श्लोक हैं। अगर एक-एक दिन एक-एक श्लोक को अपने जीवन में आत्मसात् करें, तो सात सौ दिनों में मनुष्य संसार के सभी बंधनों से मुक्त हो सकता है, लेकिन किसने किया है? ग्रन्थ तो बहुत लिखे गये हैं, लेकिन वह ज्ञान जीवन के कर्मों, विचारों और भावनाओं में उतरा नहीं है। और ज्ञान जब बुद्धि तक ही सीमित रह जाता है, तब उसका कोई महत्त्व नहीं होता।

हमारे गुरु स्वामी सत्यानन्दजी कहा करते हैं कि पोथी पढ़ने से आदमी तोता होता है और सेवा करने से हनुमान। पोथी पढ़कर जब तक उसे आत्मसात् नहीं किया जाए, जब तक उसे जीवन में एक कर्म के रूप में नहीं उतारा जाये, तब तक हमारी अवस्था तोते जैसी होती है। प्रवचन दे रहे हैं, तो प्रमाण के रूप में अनेक साहित्यों से, ग्रंथों से श्लोक दुहरा रहे हैं, लेकिन बौद्धिक स्तर पर ही, व्यावहारिक स्तर पर वह ज्ञान उतर नहीं रहा है। जब उसी ज्ञान को हम आत्मसात् करते हैं तब हनुमानजी जैसा रूप होता है। हनुमानजी ज्ञानी भी थे, वे केवल सेवक नहीं थे। उन्होंने ज्ञान को आत्मसात् किया। उन्होंने अपने ज्ञान को सेवा का रूप दिया। सेवा से क्या हुआ? *'सियाराममय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम जोरी जुग पानी।'* मैं सभी में ईश्वर की उस सत्ता को देखने लगा, जो सर्वव्यापी है। और जब मैं ईश्वर की उस सत्ता को देखने लगता

हूँ, जो सर्वव्यापी है, तो मेरी क्या क्रिया-प्रतिक्रिया होगी? मेरे कर्मों का क्या रूप रहेगा? सभी कर्मों को मैं सेवा का रूप ही मानूँगा। इसी बात को गीता में समझाया गया है।

गीता में तीन विचारधाराओं की चर्चा की गयी है। एक विचारधारा है 'सांख्य योग' की। दूसरी विचारधारा है 'कर्मयोग' की और तीसरी विचारधारा है 'भक्तियोग' की। इन तीनों का आधार है शरणागति, क्योंकि गीता के अन्त में, सत्रह अध्यायों की चर्चा करने के बाद अट्ठारहवें अध्याय में भगवान् कहते हैं – *सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।* सत्रह अध्यायों का मूल सन्देश क्या हुआ? शरणागति। *सर्वधर्मान्परित्यज्य* – सभी धर्मों का त्याग करके मेरी शरण में आ जाओ, शरणागति को प्राप्त करो।

भगवद्गीता की शुरुआत युद्ध क्षेत्र में होती है। कौरव और पाण्डव दो गुट थे और इन दोनों के बीच युद्ध की नौबत आती है। इन दो गुटों में जब युद्ध की तैयारी होती है तब कुरुक्षेत्र में, जिसको धर्म की भूमि कहा गया है, अर्जुन दोनों सेनाओं में खड़े योद्धाओं को देखता है, जो मर मिटने के लिये तैयार थे। वे एक उद्देश्य के लिये, चाहे वह धर्म का हो या अधर्म का, मर मिटने के लिये तैयार थे। तब अर्जुन के मन में विषाद की उत्पत्ति होती है कि ऐसा क्यों। कोई धर्म के नाम पर लड़ रहा है, कोई अधर्म के नाम पर। धर्म में भी स्वार्थ है और अधर्म में भी। धर्म में स्वार्थ है अपने हिस्से को पाना। अधर्म में स्वार्थ है दूसरों को उनका हिस्सा नहीं देना। दोनों में कौन उत्तम है? धर्म का स्वार्थ उत्तम है। स्वार्थ को कोई छोड़ नहीं सकता, कामना को भी छोड़ नहीं सकता, और छोड़ना चाहिए भी नहीं, क्योंकि जिस दिन हम कामना का त्याग करेंगे, उस दिन संसार में रहने का कोई मतलब नहीं रहेगा।

अगर भगवान् श्रीकृष्ण चाहते तो पाण्डवों को कह सकते थे कि तुम संन्यास लेकर जंगलों में रहो, वहीं तुम्हारा कल्याण होगा। वे कह सकते थे किसी गुरु के शिष्य बन जाओ, साधना, जप, अनुष्ठान और तप करो, राज्य की कामना क्यों? लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने रास्ता अपनाया धर्म को स्थापित करने का, जो अधर्म के द्वारा छुप रहा था, लुप्त हो रहा था। अर्थात् धर्म का स्वार्थ था कि धर्म की स्थापना हो। स्वार्थ नकारात्मक ही नहीं, सकारात्मक भी होता है। स्वार्थ को अगर नकारात्मक रूप से देखना चाहें तो वह 'स्व' से जुड़ा है, आत्मतुष्टि से जुड़ा हुआ है, लेकिन अगर एक विश्वव्यापी विचारधारा को लेकर कर्म किया जाये, तो वह स्वार्थपूर्ण नहीं, निःस्वार्थ कर्म होता है।

नि:स्वार्थ में 'स्व' को 'नि' से समाप्त कर देते हैं। एक तरफ है स्वार्थ – 'स्व' और 'अर्थ'। दूसरी तरफ है नि:स्वार्थ – 'नि', 'स्व' तथा 'अर्थ'। अर्थात् जहाँ पर 'स्व' न हो, लेकिन अर्थ हो तो उसे कहते हैं नि:स्वार्थ।

जब अर्जुन युद्ध भूमि में दोनों पक्षों के योद्धाओं को देखता है तब उसे दु:ख होता है। विषाद की स्थिति आती है और उसी अवस्था में वह भगवान् से प्रश्न करता है। कहता है, युद्ध किसलिये? राज्य लेकर हम करेंगे क्या? कोई रहेगा नहीं, सभी मारे जाएँगे। और भगवान् अर्जुन को समझाने के लिए एक विचित्र पद्धति अपनाते हैं। वे सीधा कह सकते थे कि यह सब विषाद छोड़ो। तुम अपना कर्म करो। यह होना है, होकर ही रहेगा। अगर तुम नहीं करोगे तो कोई दूसरा करेगा। तुम अपने धर्म का पालन करो। क्षत्रिय हो, क्षत्रिय बनकर रहो। लेकिन भगवान् ने जिस विशेष पद्धति को अपनाया, वह अपने आप में अपूर्व है।

विषाद की अवस्था में क्या होता है? मन काम नहीं करता, बुद्धि काम नहीं करती, आँखों के सामने अन्धेरा छा जाता है। विवेक काम नहीं करता। धर्म और अधर्म की परिभाषायें समाप्त हो जाती हैं। मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। क्या करूँ, क्या नहीं करूँ, कुछ समझ में नहीं आता। अच्छा क्या है, बुरा क्या है, मालूम नहीं पड़ता। मनुष्य अपने आप को इतना विचलित पाता है कि वह कर्म करने में असक्षम हो जाता है। तो इस अवस्था में श्रीकृष्ण अर्जुन को सांख्य के बारे में समझाते हैं। कहते हैं कि तुम जो अनुभव कर रहे हो, वह तुम अपने मन से कर रहे हो, तुम्हारे मन में प्रेम है, क्रोध है, द्वेष है, भय है, पीड़ा है, करुणा है, वैर है, मैत्री के भाव हैं। ये सब मन की अवस्थायें हैं, और अगर मन की अवस्था इस प्रकार विचलित रहेगी तो तुम मानवीय कर्तव्यों को निभा नहीं पाओगे। इसीलिये मन की इन व्यक्त अवस्थाओं से परे जाकर मन के वास्तविक स्वरूप को समझो कि वह है क्या। मन का तात्पर्य यहाँ पर अन्त:करण से है, अन्त:करण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। मन को समझो और जब समझ जाओगे तब तुम्हारा मन तुम्हारे नियंत्रण में, तुम्हारे अधीन रहेगा। तुम मन के स्वामी रहोगे, मन तुम्हारा स्वामी नहीं रहेगा।

एक रथ या घोड़ा गाड़ी पर सवारी करनी हो तो क्या करोगे? लगाम हाथ में लेकर घोड़ों को उस दिशा में ले जाओगे, जिस दिशा में जाना चाहते हो। लेकिन अगर हाथ में लगाम न रहे, तो क्या कहीं जा पाओगे? घोड़ों की अपनी मर्जी चलेगी। एक घोड़ा दाहिने जाना चाहेगा, एक बायें जाना चाहेगा; एक बैठना चाहेगा, एक घास चरना चाहेगा। कैसे संभालोगे? घोड़ों को संभालने के

लिये यह आवश्यक है कि उनकी लगाम हाथ में रहे। जीवन में आगे बढ़ने के लिये मन पर नियन्त्रण होना आवश्यक है। अगर मन पर नियन्त्रण नहीं हुआ तो फिर सब एक ही स्थान में अटके रहेंगे, जीवन में स्थिर हो जाएँगे। मनुष्य मूढ़ हो जाएगा। मूढ़ता से प्रभावित न होने के लिये गीता में पहले शिक्षा दी जाती है सांख्य योग की। उसके बाद दूसरी शिक्षा दी जाती है कर्मयोग की, जिसका वर्णन तीसरे अध्याय में किया गया है।

तीसरे अध्याय के बाद जो विभिन्न अध्याय आते हैं—ज्ञान कर्म संन्यास योग, कर्म संन्यास योग, वे कर्म योगों के ही विभिन्न रूपों का विस्तार हैं। कर्म तो आदमी करता है, लेकिन कर्मों में ज्ञान को भी जोड़ा जा सकता है। कर्म में त्याग वृत्ति को भी जोड़ा जा सकता है, जिसको कहते हैं संन्यास वृत्ति। कर्म में शरणागति को जोड़ा जा सकता है, निःस्वार्थ भाव को जोड़ा जा सकता है, भक्ति को जोड़ा जा सकता है। यह सब समझाते हुए फिर भगवान् श्रीकृष्ण भक्ति के बारे में बतलाते हैं। तीसरी शिक्षा भक्ति की है, जिसका वर्णन बारहवें अध्याय में किया गया है। भगवान् भक्ति के सभी लक्षणों को, शरणागति की सभी अवस्थाओं को समझाते हैं कि किस प्रकार मनुष्य शरणागति की अवस्था को प्राप्त कर सकता है और शरणागति ही सबसे उच्च योग है। 'अहम् कर्ता' की भावना दूर हो जाए और *'नाहं कर्ता हरिः कर्ता, हरिः कर्ता ही केवलम्'* की भावना आए। शरणागति अपने आप में एक वृहत् मनोविज्ञान है। वैसे तो पूरा गीता दर्शन ही मनोवैज्ञानिक है, इसकी शुरुआत सांख्ययोग से होती है और इसका अन्त होता है मोक्ष संन्यास योग में। मोक्ष किसको कहते हैं? जब मनुष्य अपने मन को पार कर ले और ईश्वरीय सत्ता का बोध उसे हो जाए, तथा उस ईश्वरीय अनुभव में वह अपने आपको स्थापित कर ले, तब उस अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

गीता को मनोविज्ञान का एक अद्वितीय ग्रंथ माना जाता है। आज के संसार में अगर लोग पीड़ित हैं तो अपने मन से ही पीड़ित हैं। पीड़ा का एक ही कारण है कि अपने आप से समझौता नहीं कर पा रहे हैं। परिस्थिति और वातावरण से जब समझौता नहीं होता, तब दुःख की उत्पत्ति होती है। अपनी इच्छाओं, वासनाओं, कामनाओं से जब समझौता नहीं होता, तब दुःख की उत्पत्ति होती है। अपने व्यवहार और विचार से समझौता नहीं होता तब दुःख की उत्पत्ति होती है। दुःख का एक ही मतलब होता है—समझौते का अभाव। चाहे वह मन से हो, बाह्य परिस्थितियों से हो, परिवार से हो, कामना से हो, इच्छा से हो, अपने संस्कार से हो या अपने पुरुषार्थ से हो। जब हमारी अपेक्षायें हमारे

कर्मों से भी अधिक विशाल रूप धारण करती हैं, और हम अपेक्षाओं में अपने आपको लिप्त पाते हैं, और अपने कर्मों के अनुरूप, सामर्थ्य के अनुरूप अपनी आकांक्षाओं को, इच्छाओं को ढाल नहीं पाते, तब दु:ख होता है। सुख किसको कहते हैं? समझौते की अवस्था को सुख कहते हैं। अगर दु:ख से समझौता हो जाए, तो क्या होगा? सुख की प्राप्ति।

मन एक द्वार है, जिसको पार करने के बाद आप प्रकृति द्वारा निर्मित कमरे को पार करके खुले में जा सकते हैं। संकीर्णता से व्यापकता को, सीमित अवस्था से व्यापक अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। अब लोगों के संस्कार, लोगों के कर्म द्वार को पार करने ही न दें, वह बात अलग है। लोग प्रकृति निर्मित मन के कमरे के भीतर बैठे हैं। द्वार पर जाते हैं, बाहर देखने की इच्छा होती है, थोड़ी-बहुत साधना कर ली, थोड़ा-बहुत अनुभव हो गया, अच्छा लगा, मन को शान्ति हो गयी, कुछ आनन्द की अनुभूति हो गयी, उसके बाद वापस कमरे में। मन की लक्ष्मणरेखा को कोई पार नहीं कर पाया है। लेकिन भारतीय दर्शनों में यह बतलाया गया है कि अगर तुम शाश्वत सुख, शान्ति और आनन्द को प्राप्त करना चाहते हो, तो इस मन की सीमा से बाहर निकलना पड़ेगा। बाहर निकलने के पहले, इधर के कर्म बन्धन, वासना बन्धन, कामना बन्धन जो हैं, सबको काटना पड़ेगा, सबसे मुक्त होना पड़ेगा। इनसे मुक्त होकर तुम इस प्रकृति निर्मित तथा प्रकृति के अन्तर्गत स्व-निर्मित कमरे के बन्धनों से मुक्त हो सकते हो। और जब मुक्त होओगे तो तीन चीजों की प्राप्ति होगी – विजय, विभूति और श्री।



॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥

अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥1॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥2॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥3॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥4॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥5॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥6॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥7॥
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥8॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥9॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ 10 ॥
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ 11 ॥
तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ 12 ॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ 13 ॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ 14 ॥
पाञ्चजन्यं हृषिकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ 15 ॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ 16 ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ 17 ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ 18 ॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ 19 ॥
अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ 20 ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ 21 ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ 22 ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ 23 ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ 24 ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥ 25 ॥
तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ 26 ॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥ 27 ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ 28 ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ 29 ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ 30 ॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ 31 ॥
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ 32 ॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ 33 ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ 34 ॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ 35 ॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥ 36 ॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ 37 ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥38॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥39॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥40॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥41॥
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥42॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥43॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥44॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥45॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥46॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥47॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो
नाम प्रथमोऽध्यायः ॥





धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥1॥

अर्थ

धृतराष्ट्र बोले – हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्र युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?

व्याख्या

महाराज धृतराष्ट्र कुरुवंश के सिंहासन पर आसीन थे, परन्तु उनमें एक कमी थी कि वे अन्धे थे। जब कौरवों तथा पाण्डवों के बीच युद्ध की तैयारियाँ हो रही थीं, तब अन्धे होने के कारण वे अपने राजमहल में मन्त्रियों के साथ बैठे थे और जानना चाह रहे थे कि युद्धभूमि में क्या हो रहा है। धृतराष्ट्र के मन्त्री तो अनेक थे, लेकिन संजय, जो उनका सारथी भी था, एक बहुत विद्वान् संत के रूप में जाना जाता था।

युद्ध के प्रारम्भ में जब महर्षि वेदव्यास राजदरबार में आते हैं और महाराज धृतराष्ट्र से कहते हैं कि अगर तुम युद्ध देखना चाहो तो हम तुमको ऐसी शक्ति दे सकते हैं, जिसके द्वारा तुम्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त होगी और तुम युद्धभूमि की सभी घटनाओं को स्वयं देख सकोगे, तब धृतराष्ट्र कहते हैं – "नहीं, मुझे अपने वंश का विनाश देखने में कोई आनन्द नहीं आएगा, लेकिन युद्धभूमि

में जो घटनायें घट रही हैं, उनके बारे में अगर कोई मुझे बतलाये, तो मैं सुन सकता हूँ।" तब महर्षि वेदव्यास ने संजय को दिव्यदृष्टि प्रदान की और संजय अपनी दिव्यदृष्टि से युद्धभूमि की सभी घटनाओं को देखने में सक्षम हो गये।

यह दिव्यदृष्टि है क्या? कुछ लोग कहते हैं कि उस जमाने में विज्ञान इतनी प्रगति कर चुका था कि जैसे आजकल क्लोज सर्किट टेलीविजन होता है, कौरव और पाण्डव पक्ष भी उसी प्रकार का क्लोज सर्किट टेलीविजन लगाकर बैठे थे। ऐसी अनेक विचारधाराएँ सामने आती हैं, लेकिन योग के मतानुसार पंचमहाभूत होते हैं। उनमें से आकाश तत्त्व एक महाभूत है। आकाश तत्त्व में ही अग्नि तत्त्व व्याप्त है, जिसको कहते हैं तेज, ऊर्जा।

अग्नि तत्त्व की विशेषता यह है कि मनुष्य जो भी कर्म या विचार करता है, उसका एक स्पन्दन आकाश तत्त्व में वायुमण्डल के द्वारा फैलता है। जिस प्रकार से आप एक जलाशय में एक कंकड़ फेंक दें, तो जिस स्थान पर कंकड़ गिरता है उस स्थान से गोलाकार तरंगें उत्पन्न होती हैं और धीरे-धीरे पूरे जलाशय में फैल जाती हैं, ठीक उसी प्रकार से मन, बुद्धि, भावना, चित्त या चेतना में जो स्पन्दन उत्पन्न होते हैं, चाहे उनका रूप विचारों का हो या इच्छाओं का या कामनाओं का, वे स्पन्दन भी आकाश तत्त्व में फैलते हैं।

यदि कोई व्यक्ति उन स्पन्दनों को अपने विचारों के द्वारा पकड़ सकता है, तो उसको कहते हैं 'टेलीपैथी', अर्थात् विचारों को जान लेना – दूसरे क्या विचार कर रहे हैं, क्या सोच रहे हैं, उसे जान लेना। अगली कड़ी या अवस्था के रूप में व्यक्ति आकाश तत्त्व में स्थित तरंगों के रूप को देख सकता है। इसमें कोई बड़ी बात नहीं है। उदाहरण के लिये टेलीविजन को लेते हैं, टेलीविजन में क्या होता है? वह एक तरंग को, एक अलग आवृत्ति को पकड़ता है, जो अभी यहाँ पर आसमान में व्याप्त है, और उसे पकड़कर वह एक रूप देता है।

आप टेलीविजन देख रहे हैं – समाचार आ रहा है, नृत्य हो रहा है, संगीत चल रहा है। कहने का तात्पर्य यह कि हर एक क्रिया, हर एक विचार, हर एक प्रतिक्रिया, जो हमारे जीवन में होती है, वह वायुमण्डल में, आकाश तत्त्व में, अग्नि तत्त्व में एक स्पन्दन को प्रकट करती है। कुछ लोगों को ऐसी क्षमता साधना के द्वारा मिल जाती है कि वे उस स्पन्दन को वैचारिक, बौद्धिक रूप से पकड़ लेते हैं। और जब वैचारिक, बौद्धिक रूप से उन्हें पकड़ते हैं तब वह हो जाता है विचारों को जानना – 'टेलीपैथी'। लेकिन जब उसी स्पन्दन को चेतना के सूक्ष्म क्षेत्र में ग्रहण कर एक रूप दिया जाता है, तब जो हो रहा है या अतीत

में हो चुका है, उसको हम अपनी अन्तर्दृष्टि से स्पष्ट रूप से देखने में सक्षम हो जाते हैं। वही स्थिति है दिव्यदृष्टि की।

जिस प्रकार से विज्ञान एक तरंग को एक रूप में परिवर्तित कर सकता है, जो टेलीविजन के माध्यम से दिखायी देता है, ठीक उसी प्रकार से साधना के द्वारा भी मनुष्य या साधक ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेता है कि वह उस तरंग को अपने भीतर ही परिवर्तित कर ले और बन्द आँखों से उसे पूरा-का-पूरा दृश्य दिखलाई दे। उस क्रिया को, उस अवस्था को हम लोग कहते हैं 'दर्शन' – जब कोई चीज बन्द आँखों के सामने साक्षात् दिखलाई दे। दर्शन शब्द का सम्बन्ध रहता है व्यक्तिगत साधना से। हम स्वयं साधना करके ऐसी क्षमता प्राप्त करते हैं, जिसके द्वारा दर्शन संभव होता है। और जब कोई सिद्ध व्यक्ति दूसरे को अनायास ही शक्तिपात द्वारा, दीक्षा के द्वारा दर्शन करने की क्षमता प्रदान कर देता है, तब उसको कहते हैं दिव्यदृष्टि। महर्षि वेदव्यास ने संजय को यह दिव्यदृष्टि प्रदान की। इसी दिव्यदृष्टि के बल पर संजय युद्ध-भूमि, कुरुक्षेत्र में घटित सभी घटनाओं को देखने में सक्षम हो पाए, जिसका वर्णन उन्होंने अन्धे सम्राट् धृतराष्ट्र के समक्ष किया।

कुरुक्षेत्र एक स्थान का नाम है, जो युद्ध की भूमि थी। प्राचीन काल में युद्ध के नियम हुआ करते थे। इच्छानुसार कहीं भी युद्ध नहीं हुआ करते थे, युद्ध के लिए एक अलग स्थान होता था। अगर कोई किसी शत्रु राजा के साथ युद्ध करना चाहता, तो उसको खबर भेजता था कि युद्ध की तैयारी करो, युद्ध-भूमि में हम लोग मिलेंगे। ये वैदिक युद्ध शास्त्र के नियम हैं। कुरुक्षेत्र उस काल की युद्धभूमि थी। आधुनिक इतिहास में भी हल्दीघाटी और पानीपत के युद्ध वहीं पर हुए थे, लेकिन उस समय उसे कुरुक्षेत्र कहा गया, क्योंकि वह कुरुओं के क्षेत्र में आता था।

यहाँ इस प्रश्न की विशेषता यह है कि महाराज धृतराष्ट्र ने पूछा – "कुरुक्षेत्र, जो धर्मक्षेत्र भी है, उस युद्धभूमि में युद्ध की इच्छा रखने वाले जो दो पक्ष मिले हैं, उनके बीच क्या बीता, हमें बतलाओ।" उन्होंने धर्मक्षेत्र शब्द का प्रयोग क्यों किया, वे तो सीधा कह सकते थे – "कुरुक्षेत्र में क्या घटना घटी, वह मुझे बतलाओ।" लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं कहा। उन्होंने जानबूझकर धर्मक्षेत्र शब्द का प्रयोग किया। इसके अनेक अभिप्राय हो सकते हैं। एक अभिप्राय तो यह कि जो युद्ध हो रहा था उसका बाह्य रूप भले ही दो पक्षों के बीच युद्ध का था, किन्तु वास्तविक युद्ध था धर्म तथा अधर्म के बीच। भले ही महाराज धृतराष्ट्र

अन्धे थे या अपने पुत्रों के प्रति उनका ज्यादा स्नेह था, लेकिन फिर भी वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि मेरे पुत्रों तथा पाण्डु पुत्रों के बीच जो युद्ध हो रहा है, वह वास्तव में धर्म और अधर्म के बीच युद्ध है। यह बात केवल वे नहीं, दुर्योधन भी जानता था। युद्ध के पूर्व शान्ति प्रस्ताव के दौरान जब भगवान कृष्ण हस्तिनापुर राज्य में जाकर कौरवों को समझा रहे थे कि तुमलोग सन्धि कर लो, शान्ति स्थापित कर लो, नहीं तो नरसंहार होगा, अराजकता होगी, दु:ख होगा, तब उस समय दुर्योधन ने उनसे एक बात कही थी –

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन।
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

मैं धर्म तो जानता हूँ, लेकिन धर्म की ओर मेरी प्रवृत्ति नहीं है। जानता मैं सब कुछ हूँ। मैं जानता हूँ कि क्या गलत, क्या सही है, लेकिन उस ओर मेरी प्रवृत्ति बिल्कुल नहीं है। अधर्म क्या है, वह भी मैं जानता हूँ, मुझे उत्तम गुरुओं से शिक्षा मिली है। मेरे पितामह भीष्म ने मुझे धर्म-अधर्म की शिक्षा दी है। मेरे गुरु द्रोणाचार्य ने मुझे केवल युद्ध शास्त्र की नहीं, बल्कि धर्म और अधर्म की भी शिक्षा दी है। हमारे राज्य में भी अनेक मंत्री हैं, विद्वान् हैं, धर्म के जानकार हैं, उनसे भी मुझे सुनने को मिला है कि धर्म क्या है, अधर्म क्या है। किन्तु धर्म की ओर मेरी प्रवृत्ति नहीं है, आकर्षण नहीं है और अधर्म से मेरी निवृत्ति नहीं है, अधर्म से मेरा अलगाव नहीं है। इतनी बात कहकर वह एक बात और भी कहता है कि मुझको समझ में नहीं आ रहा है कि ऐसा मेरे द्वारा क्यों हो रहा है। पता नहीं कौन वह देवता है जो मेरे भीतर बैठा हुआ है। पता नहीं वह कौन-सी चेतना, या कौन-सा संस्कार मेरे भीतर है, जो मुझे जैसा करने को कहता है, मैं वैसा ही करता हूँ। दुर्योधन ने तो स्पष्ट रूप से यह बात कह दी है कि जानकारी मुझे सब है। आप मुझे मत सिखलाइये कि धर्म क्या है, अधर्म क्या है; अच्छा क्या है, बुरा क्या है। मैं लाचार हूँ, विवश हूँ। मुझको तो समझ में ही नहीं आ रहा कि वह क्या चीज है मेरे भीतर, जो मुझे इस ओर ले जा रही है।

दुर्योधन ने देवता शब्द का प्रयोग किया है, देवता शब्द का मतलब होता है जो भीतर में प्रकट हो, जो चेतना में प्रकाशमान हो। अगर हमारी चेतना में विवेक बुद्धि प्रकाशित हो जाती है, तो वह भी देवता का ही एक रूप है। अगर

धर्म हमारी चेतना के भीतर प्रकाशित हो जाए, तो धर्म भी देवता का रूप है। अगर काम हमारे भीतर, चेतना को आच्छादित कर दे, अगर वासना हमारी चेतना के भीतर व्याप्त हो जाये, तो उसका भी रूप देवता का ही है, क्योंकि वही चेतना के समस्त आयामों को उस समय प्रकाशित कर रही है, और उसके प्रकाश के अनुरूप ही, उसके प्रभाव के अनुरूप ही हमारे कर्म हो रहे हैं। विवेक के रहते हुए भी बहुत बार बुद्धि मारी जाती है और उल्टा कर्म होता है। सब लोगों के जीवन में होता है। जानते हैं कि ऐसा नहीं करना चाहिए, फिर भी करते हैं, किसी आन्तरिक दबाव के कारण। यह आन्तरिक दबाव क्या है? दार्शनिक भाषा में इस अवस्था को, चेतना की इस स्थिति को देव रूप के नाम से सम्बोधित किया गया है। अच्छाई भी देव रूप है और बुराई भी। धर्म भी देव रूप है, अधर्म भी। इसको धार्मिक दृष्टि से नहीं, बल्कि अपने व्यक्तित्व की एक स्थिति के रूप में, एक अवस्था के रूप में समझना होगा।

दुर्योधन ने तो साफ कह दिया कि हम तो अपना निर्णय बदलेंगे नहीं। पाँच गाँव भी नहीं देंगे। युद्ध होगा, अवश्य होगा। युद्ध के परिणामों को मैं जानता हूँ। मुझको समझाने की आवश्यकता नहीं कि युद्ध के बाद समाज की, देश की, राज्य की क्या स्थिति होगी, लेकिन ये सब जानते हुए भी मैं अपने आपको विवश पाता हूँ। इसीलिये महाभारत युद्ध को हम दुर्योधन का धर्म युद्ध भी मान सकते हैं, क्योंकि उसने केवल पाण्डु पुत्रों के साथ संघर्ष नहीं किया। एक संघर्ष तो उसका बाह्य था पाण्डु पुत्रों के साथ, लेकिन उसका एक संघर्ष आन्तरिक भी था–उसके भीतर अधर्म का जो अंधकार था, तथा धर्म की जो चिंगारी उसे दूर में दिखलाई देती थी, उनके बीच। इन्हीं सबको जानते हुए धृतराष्ट्र ने युद्धक्षेत्र को धर्मक्षेत्र के नाम से भी सम्बोधित किया, क्योंकि धृतराष्ट्र भी जानते थे कि मेरे पुत्र दुर्योधन की क्या कमजोरी और क्या विवशता है, कौन-सा हठ है।

अब आती है बात धर्म और अधर्म की। धर्म क्या है और अधर्म क्या है? सभी के अपने-अपने मत हो सकते हैं, लेकिन अगर एक वाक्य में कहा जाए तो सार निकलता है– धर्म के द्वारा दूसरों का और अपना भी हित, और अधर्म के द्वारा दूसरों का तथा अपना भी अहित। जो अधर्म मार्ग पर चलता है, चाहे उसका जो भी रूप हो, चाहे वह चोरी करे या डकैती, चाहे झूठ बोले या हिंसा करे; अपनी मान्यता के अनुसार जिसको आज हम अधर्म मानते हैं, उससे तो अहित ही होता है, हित कभी नहीं होता। इसके विपरीत चाहे वह दूसरों की सेवा हो, परोपकार हो या पुण्य कमाने का कोई मार्ग हो, सत्याचरण

हो या अहिंसा का आचरण हो, जो *'सर्वभूत हितेरता:'* की भावना है, जो भी सकारात्मक दृष्टिकोण हम अपने जीवन में अपना सकते हैं, वह धर्म की भावना कहलाती है। हम लोगों का वास्तविक धर्म है सनातन धर्म। इस सनातन धर्म में अनेक सम्प्रदाय हैं – वैष्णव सम्प्रदाय, शैव सम्प्रदाय, शाक्त सम्प्रदाय, इत्यादि – जिनके अनेक अनुयायी भी हैं। इस देश में जितने लोग हैं, वे सभी किसी-न-किसी सम्प्रदाय के अनुयायी के रूप में आचरण करते हैं, धर्म के अनुयायी के रूप में नहीं। कोई देवी को मानता है, कोई कृष्ण को, कोई राम को मानता है, कोई अन्य किसी को।

सनातन परम्परा में मानने की स्वतन्त्रता दी गयी है। सनातन परम्परा कहती है कि तुमको जो मानना है सो मानो, लेकिन एक ही चीज का ख्याल रखो कि तुम्हारी विचारधारा, व्यवहार या आचरण से किसी का अहित न होने पाये। जो आदमी मात्र इस वाक्य का पालन करता है, वह सनातनी है। चाहे वह वैष्णव हो, शैव हो, जैन हो या बौद्ध हो। जैन लोग भी *'सर्वभूतहितेरता:'* भाव को अगर धारण करें, तो वे सनातन विचारधारा का ही पालन कर रहे हैं। बौद्ध भी *'सर्वभूतहितेरता:'* भाव को धारण करें, तो वे एक ऐसी विचारधारा का पालन कर रहे हैं, जो दूसरों का हित चाहती है।

सम्प्रदायों में भी वास्तविक मानवीय गुणों को दूर नहीं किया गया है। मतभेद के कारण हो सकते हैं, लेकिन मतभेद के कारण गुण तो समाप्त नहीं हो जाते। इसीलिये विश्व सभ्यता का दर्शन सनातन दर्शन है। सनातन दर्शन का कोई लिखित रूप नहीं है। अगर लोग कहें कि वैदिक दर्शन, सनातन दर्शन का लिखित रूप है, तो वह बात भी गलत है। वैदिक दर्शन मात्र एक विचारधारा है, जिसमें मनीषियों ने अपने शोध के विचारों को व्यक्त किया है। या हम कह सकते हैं कि हमारे प्राचीन आध्यात्मिक वैज्ञानिकों का वह शोध-पत्र है। एक मनीषी ने एक शोध-पत्र लिखा, दूसरे ने दूसरा, तीसरे ने तीसरा। उदाहरण के लिये, आजकल भी लोग अपना शोध-पत्र लिखते हैं, और शोध-पत्र जब स्वीकृत होता है, तब शोधकर्ता को डॉक्टरेट की उपाधि मिल जाती है। शोधकर्ता को तो डॉक्टर की उपाधि मिल गयी, लेकिन शोध-पत्र का क्या हुआ? शोध-पत्र उस शास्त्र का एक अंग हो गया, जिसको उस शास्त्र ने स्वीकार कर लिया। ठीक उसी प्रकार से आध्यात्मिक वैज्ञानिकों के शोध ग्रन्थ, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, श्रुतियाँ तथा गृह्यसूत्र इत्यादि हैं। इस वैदिक साहित्य के विस्तार में अलग-अलग काल में अलग-अलग लोगों ने अपना

योगदान दिया है, किन्तु सनातन विचारधारा किसी एक सम्प्रदाय से सम्बन्ध नहीं रखती, न जाति विशेष से सम्बन्ध रखती है। सनातन विचारधारा का एक ही अर्थ है – धर्म और अधर्म के बीच भेद को जानना और उसके अनुरूप कार्य करना। इसी भेद को श्रीमद्भगवद्गीता में समझाया गया है। इस विचारधारा के अनावरण की, धर्म और अधर्म के भेद को जानने की उत्सुकता स्वयं धृतराष्ट्र ने सांकेतिक रूप से अपने पहले ही प्रश्न में व्यक्त की है।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥2॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥3॥

अर्थ

संजय बोले – उस समय राजा दुर्योधन ने व्यूह रचनायुक्त पाण्डवों की सेना को देख द्रोणाचार्य के पास जाकर यह वचन कहा – "हे आचार्य! अपने पाण्डु पुत्रों की इस भारी सेना को देखिए, जिसकी व्यूहरचना आपके कुशल शिष्य द्रुपदपुत्र ने की है।"

व्याख्या

पहले श्लोक में धृतराष्ट्र ने अपने सारथी संजय से प्रश्न किया था कि युद्धभूमि में, धर्मक्षेत्र में पाण्डुपुत्रों तथा उनके पुत्रों के बीच क्या घटना घटी है। उस प्रश्न के उत्तर में संजय कहता है – "पाण्डवों की सेना को व्यूहबद्ध देखते हुए दुर्योधन अपने गुरु द्रोणाचार्य के पास पहुँचे और कहने लगे कि हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद पुत्र धृष्टद्युम्न के द्वारा पाण्डवों की सेना की जो व्यूह रचना की गयी है, उसको एक बार देखिये।"

महाभारत के प्रसंग से हम लोगों को मालूम पड़ता है कि पाण्डवों के पास केवल सात अक्षौहिणी सेना थी और कौरवों के पास ग्यारह अक्षौहिणी सेना थी। अर्थात् पाण्डवों के पास कम सेना थी और कौरवों के पास अधिक, क्योंकि शासन उनका था। पाण्डवों के साथ जो सेना थी, वह तो उन्हीं के

मित्रों, द्रुपद तथा अन्य सहायकों की थी, लेकिन सत्ता कौरवों के हाथ थी और उन लोगों ने दबाव डालकर अपनी सेना की वृद्धि भी की थी। लेकिन फिर भी दुर्योधन अपने आचार्य गुरु द्रोणाचार्य के पास जाकर कहता है कि इनकी विशाल सेना को देखिये। यहाँ पर *'महतीं चमूम्'* शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका मतलब होता है बहुत बड़ी सेना। दुर्योधन को मालूम था कि उसके पास योद्धाओं की संख्या अधिक है और पाण्डवों की सेना में योद्धाओं की संख्या कम है। फिर भी उसने 'पाण्डवों की विशाल सेना को देखिये', ऐसा क्यों कहा? उस सेना को देखकर घबराया क्यों?

युद्ध के समय अनेक प्रकार के व्यूह बनाये जाते हैं। जब सामरिक संरचना बन रही थी, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवों के पक्ष में थे। और उनके युद्ध कौशल एवं चातुर्य का प्रयोग कौरवों के मनोबल को नष्ट करने में हुआ। यह विचार करने योग्य है कि जब कृष्ण भगवान् में यह क्षमता थी कि अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखला दें, तो क्यों न वह दुर्योधन को पहले ही अपना एक चमत्कार दिखला दें।

अत: उस व्यूह रचना से दुर्योधन को पाण्डवों की सेना का एक-एक योद्धा अनेक रूपों में दिखलायी देने लगा। जब उसके मन में यह भ्रम हुआ तो उसका ज्ञान गायब हो गया। मन में भ्रम उत्पन्न होने से ज्ञान का लोप तो होता ही है। जिस प्रकार अँधेरे में चलते समय एक रस्सी को देखने से साँप का भ्रम होता है और उस समय पहली प्रतिक्रिया भय की होती है। उस समय ज्ञान काम नहीं करता, विवेक काम नहीं करता। तब उस भय की अवस्था में किसी वस्तु का या परिस्थिति का या ज्ञान का वास्तविक रूप दिखलायी नहीं देता, उसका बोध नहीं होता।

यहाँ दो कारण हो सकते हैं। एक तो भगवान् कृष्ण का चातुर्य कि उन्होंने अपने कौशल से दुर्योधन को पाण्डवों की सेना की इस प्रकार प्रतीति करायी कि वह उसे बहुत बड़ी दिखलायी देने लगी और उसके मन में भय उत्पन्न हुआ। दूसरा कारण हो सकता है कि जो महायुद्ध होने वाला था, उसमें असंख्य लोग मरने वाले थे। ऐसे समय में मृत्यु का भय भी मनुष्य की बुद्धि को भ्रमित कर देता है। वह कहावत है–विनाशकाले विपरीत बुद्धि। मृत्यु के भय से या मृत्यु की आशंका से दुर्योधन की बुद्धि भ्रमित हो गयी। अगर मनोवैज्ञानिक पक्ष से देखा जाये तो यही सत्य लगता है, लेकिन जहाँ कृष्णजी हैं, वहाँ कुछ विश्वास नहीं किया जा सकता। इसीलिये दोनों बातें हो सकती हैं–या तो

कृष्णजी का कौशल रहा होगा या फिर दुर्योधन की भयग्रस्त मानसिक स्थिति रही होगी।

वैज्ञानिक कहते हैं कि मनुष्य के अचेतन में भय एक ऐसी स्थिति है, मूल प्रवृत्ति है, जिसको मन से दूर नहीं किया जा सकता। मनुष्य व्यक्तित्व के सम्बन्ध में चार प्रकार की प्रवृत्तियों की चर्चा की जाती है, जिनके अधीन रहकर मनुष्य कर्म करता है। एक है आहार, दूसरा है निद्रा, तीसरा है भय, चौथा है मैथुन। आहार, निद्रा, भय और मैथुन – ये चार प्रवृत्तियाँ बहुत प्रबल रूप से मनुष्य की मानसिकता को प्रभावित करती हैं, चाहे वह कितना ही पहुँचा हुआ साधक या योगी क्यों न हो। यह मन की विशेष अवस्था है, जिसका बीज अचेतन मन में पड़ा रहता है।

आहार का सम्बन्ध स्व के पालन-पोषण से रहता है, इसका तात्पर्य केवल अन्न से नहीं है। जिस प्रकार अन्न के द्वारा हम अपने शरीर का पालन-पोषण करते हैं, ठीक उसी प्रकार विषय भोग के द्वारा, विचार भोग के द्वारा, कामना भोग के द्वारा, वासना भोग के द्वारा भी हम अपने मन का, भावनाओं का पालन-पोषण करते हैं। अगर विषयों के प्रति हमारा मन आकृष्ट न हो तो मन अस्वस्थ हो जायेगा। अगर सुख के प्रति हमारा आकर्षण न हो, स्मृति न हो, सामना न हो, तो हमारा मन निष्क्रिय हो जायेगा। तात्पर्य यह कि कर्म करने की क्षमता, पुरुषार्थ करने की प्रेरणा कम हो जायेगी, जैसा है वैसा चल रहा है, भगवान् भरोसे। अतः जिसके द्वारा हम अपने व्यक्तित्व का पालन-पोषण करते हैं, चाहे वह शरीर हो, मन हो, भावना हो या बुद्धि हो, उसको आहार के नाम से जाना जाता है।

निद्रा को एक वृत्ति के रूप में बतलाया गया है और इसका बीज भी अचेतन मन में है। निद्रा एक ऐसी वृत्ति है, जो हमारे व्यक्तित्व को अत्यधिक बोझ से बचाती है। एक तरह से कहा जाए निद्रा हम लोगों का 'सर्किट ब्रेकर' है। जैसे ट्रान्सफार्मर में सर्किट ब्रेकर लगे रहते हैं, उच्च धारा आने से, उच्च वोल्टेज आने से वह ट्रिप कर जाता है, वैसे ही निद्रा हम लोगों के भीतर उसी प्रकार का एक रेग्यूलेटर है, सर्किट ब्रेकर है, जो हमारे व्यक्तित्व को ओवरलोड होने से बचाता है। इसकी एक शारीरिक प्रक्रिया भी होती है और एक मानसिक प्रक्रिया भी – बाह्य प्रक्रिया और आन्तरिक प्रक्रिया। आप लोगों को अनुभव हुआ होगा कि शरीर के थकने पर उसमें शिथिलता का आभास होता है। बुद्धि के थकने पर, मन के थकने पर बुद्धि और मन के क्षेत्र में भी

शिथिलता का आभास होता है। जब शरीर या मन शिथिल हो जाता है, तो धीरे-धीरे इन्द्रियों एवं मन की बहिर्मुखता कम होती है और आप अपने आप में समाहित होने लगते हैं, निद्रा की स्थिति आती है, और निद्रा की अवस्था में फिर आराम मिलता है। निद्रा तो एक ऐसी वृत्ति है जिसके ऊपर किसी का नियन्त्रण नहीं है। आपके न चाहते हुए भी निद्रा आएगी। योग बतलाता है कि निद्रा का केन्द्र हम लोगों के जीवन में हमारा अचेतन मन है।

भय का मतलब होता है असुरक्षा की भावना – जब व्यक्ति अपने आपको सुरक्षित महसूस न करे। असुरक्षा की इस भावना का सम्बन्ध पूरे व्यक्तित्व से है, केवल बाहर से हमारे ऊपर कोई आक्रमण कर दे और हम भयभीत हो जाएँ, ऐसा ही नहीं। मानसिक, भावनात्मक एवं आध्यात्मिक रूप से भी जब कभी हम अपने आपको अवचेतन और अचेतन स्तर पर असुरक्षित महसूस करते हैं तो इसका सम्बन्ध रहता है आत्मसुरक्षा से, और इसके अभाव में हम विचलित हो जाते हैं, भयभीत हो जाते हैं। इसका बीज भी, केन्द्र भी अचेतन मन में है।

ठीक उसी प्रकार से मैथुन की वृत्ति है। अब यह एक ऐसी वृत्ति है जिससे कोई प्राणी मुक्त नहीं है। जानवर मुक्त नहीं है, पक्षी मुक्त नहीं है, मनुष्य मुक्त नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि इससे ईश्वर भी मुक्त नहीं है, क्योंकि उपनिषदों में अनेक बार यह प्रसंग आया है कि प्रजापति ने अपने आपको बहुत रूपों में देखना चाहा। बहुत रूपों में देखने का मतलब होता है प्रजनन की क्रिया – *'एकोऽहम् बहुस्याम:'* – मैं एक हूँ, अनेक बनूँ। अपने आपको अनेक बनाने की जो इच्छा होती है, उसको योग की भाषा में कहते हैं मैथुन की क्रिया। यह किसी शारीरिक क्रिया तक ही सीमित नहीं है। एक कामना की उत्पत्ति भी मैथुन की क्रिया मानी गयी है। मन में एक बीज का जन्म होता है, और उस बीज के अनुसार हमारे व्यवहार तथा कर्म होते हैं। एक बीज जमीन में डालेंगे तो उसका विकास होगा, पौधा बनेगा, वृक्ष बनेगा और उस वृक्ष से अनेक बीज उत्पन्न होंगे और वे बीज पुन: जमीन पर गिरेंगे। उनको खाद-पानी मिलने से पुन: उनका विकास होगा। यह क्रम तो चलता रहता है और इस पर भी मानव का कोई नियन्त्रण नहीं है।

मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति इत्यादि अनेक स्मृतियों में बतलाया गया है कि जिस व्यक्ति में बुद्धि हो वह ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। ब्रह्मचर्य पालन का तात्पर्य संभोग से मुक्ति पाना नहीं होता। मनुस्मृति तथा तन्त्र दर्शनों में स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि आदमी गृहस्थ रहते हुए भी ब्रह्मचारी

रह सकता है। ब्रह्मचारी का या ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध संभोग से ही नहीं, बल्कि चेतना की, मन की एक विशेष अवस्था से है, जो हर प्रकार की वासना, हर प्रकार की इच्छा से मुक्त हो और केवल अपनी चेतना के उत्थान के लिए प्रयत्नशील हो। जिस क्रिया या कर्म के द्वारा चेतना का विकास होता रहे, उसको कहते हैं ब्रह्मचर्य पालन। अत: ये चार बीज मनुष्य के अचेतन मन में छुपे हुए हैं, अचेतन में उनका केन्द्र है और परिस्थिति के अनुसार कभी-कभी कोई एक केन्द्र जाग्रत हो जाता है। युद्धभूमि में दुर्योधन के मन में भय की उत्पत्ति होती है, क्योंकि उसको मालूम था कि इस युद्धभूमि में मृत्यु तो निश्चित है, चाहे हम लोगों की हो या पाण्डवों की। और इस भय के कारण, मतिभ्रम होने के कारण जब वह पाण्डवों की सेना को देखता है, तब पाण्डवों की वह छोटी सेना, जो मात्र सात अक्षौहिणी थी, एक विशाल सेना के रूप में उसे दिखलायी देती है।

दुर्योधन उस विशाल सेना को देखकर घबराता है, और दौड़ते-दौड़ते अपने गुरु द्रोणाचार्यजी के पास आकर कहता है–"पाण्डवों की सेना को देखिये। पाण्डवों की सेना की व्यूह रचना आपके ही शिष्य धृष्टद्युम्न ने की है।" अब यहाँ पर दुर्योधन की कुटिल नीति है। आपको मालूम है गुरु-शिष्य का सम्बन्ध कैसा होता है। गुरु-शिष्य भले ही एक-दूसरे के विरोध में खड़े हो जाएँ, लेकिन उनके भीतर एक-दूसरे के प्रति सम्मान-भाव रहेगा ही। शिष्य के लिये गुरु हमेशा गुरु ही रहता है। चाहे बाह्य रूप से वह प्रतिकार भी करे, क्योंकि वह जिस पक्ष में है, उस पक्ष के अनुरूप आचरण तो करना ही पड़ेगा, लेकिन भावना में सम्मान रहेगा। अगर सम्मान न भी हो, तो कम-से-कम इतना तो ज्ञान रहता है कि जो व्यक्ति सामने खड़े हैं, वे हमारे गुरु हैं।

भारतीय मानसिकता में, जिनको सनातन संस्कार मिले हैं, सनातन परम्परा में गुरु के प्रति अनायास ही श्रद्धा और आदर की भावना उत्पन्न होती है। अगर आज आपको अपने प्राथमिक विद्यालय के कोई शिक्षक रास्ते में चलते मिल जाएँ, जिनको आप सालों के बाद देख रहे हों, और आप उनको पहचान लें तो हाथ जोड़कर प्रणाम तो जरूर करेंगे, भले ही पैर न पड़ें। यह हम लोगों का सनातन संस्कार है। और गुरु भी शिष्य के प्रति एक विशेष स्नेह-भाव रखते हैं, क्योंकि शिष्य में ही उनकी शिक्षा फलित होती है। गुरु की शिक्षा गुरु में कभी फलित नहीं होती। गुरु में उनके गुरु की शिक्षा फलित होती है। हम अपने जीवन में अपनी शिक्षा को कभी फलित नहीं कर पायेंगे। हम जैसा आचरण

कर रहे हैं, उसकी शिक्षा हमने अपने गुरु स्वामी सत्यानन्दजी से पायी है। जिन लोगों ने हमसे दीक्षा ली है, हो सकता है उनके जीवन में हमारी शिक्षा फलीभूत हो।

गुरु और शिष्य के बीच सम्बन्ध बहुत गहरा होता है। यह न बौद्धिक है, न बाह्य। यह भावनात्मक और आध्यात्मिक है। इसीलिये दुर्योधन ने यह सोचा कि अपने शिष्य की व्यूह रचना देखकर कहीं द्रोणाचार्य अपने आपको ढीला न कर दें, क्योंकि सामने जो सेना का व्यूह रचा गया है, वह तो द्रोणाचार्य की शिक्षा के अनुसार ही रचित है। जो शिक्षा धृष्टद्युम्न ने द्रोणाचार्य से प्राप्त की थी, उसी के अनुरूप युद्ध की तैयारी की गयी है, और वही शिष्य सामने खड़ा है सेनापति बनकर। गुरु-शिष्य के बीच उतना प्रबल वैर भाव तो कभी नहीं होगा। वैचारिक या बौद्धिक मतभेद हो सकते हैं और उस मतभेद के कारण संघर्ष हो सकता है, लेकिन उस मतभेद या संघर्ष के कारण गुरु-शिष्य एक-दूसरे को मार दें, ऐसा कभी सुनने में नहीं आया है।

यहाँ दुर्योधन द्रोणाचार्यजी को उकसाता है कि देखिये, आपका ही चेला सामने खड़ा है, उसी ने व्यूह रचा है। कहीं आप उसके प्रति अपने दिल में किसी प्रकार का उदार भाव रखकर, स्नेह-भाव रखकर उससे समझौता नहीं कर लेना। तब द्रोणाचार्य दुर्योधन को कहते हैं – "घबराओ मत, क्योंकि अभी हम लोग एक दूसरी विचारधारा को लेकर इस युद्धभूमि में एकत्र हुए हैं। यह केवल किसी को परास्त करने वाला युद्ध नहीं है, इस युद्ध में तो एक सिद्धान्त दाँव पर लगा है। यह सिद्धान्त का युद्ध है। और सिद्धान्त के युद्ध में एक सिद्धान्त की जीत तथा दूसरे का विनाश निश्चित है।"

हराने वाला युद्ध हुआ था विराट् के राज्य में, जब पाण्डव अज्ञातवास में थे। उनके अज्ञातवास के अन्तिम दिनों में कौरवों को सन्देह हुआ था कि विराट् राज्य में पाण्डव छिपे हैं, तो उन्होंने विराट् राज्य पर दो तरफ से हमला किया। एक हमला सेना पर और दूसरा हमला विराट् राज्य के गोधन पर। पहला हमला जब हुआ सेना पर, तब उस युद्ध में अर्जुन को छोड़ कर चारों पाण्डव भाई निकल गये युद्ध में, और सेना को हटाया, क्योंकि उनका प्रयोजन कौरव सेना को मारना नहीं, केवल आक्रमण को रोकना था। जब विराटराज के पशुधन पर दुर्योधन की सेनाओं ने आक्रमण किया, तब अर्जुन ने बृहन्नला के रूप में राजकुमार उत्तर के साथ जाकर उनको परास्त किया, पर किसी को मारा नहीं। अर्जुन ने सम्मोहनास्त्र चलाकर सबको बेहोश कर दिया। भीष्म को

बेहोश कर दिया, कर्ण को बेहोश कर दिया। आखिर वे भी तो महारथी लोग थे। उनके पास भी सम्मोहनास्त्र के विरुद्ध अनेक प्रकार के अस्त्र रहे होंगे, लेकिन वे लोग प्रयोग नहीं कर पाये। जब वे लोग बेहोश हो कर पड़े हुए थे तब अर्जुन ने जाकर सबको उत्तरीयरहित कर दिया था। अगर वह चाहता तो उसी समय एक-एक को बाण से मार देता, फिर महाभारत युद्ध होता ही नहीं, लेकिन वह हराने वाला युद्ध था, विजय युद्ध नहीं।

विजय युद्ध का मतलब होता है एक बार में जो हो, ले-देकर साफ कर दो और अपना ध्वज स्थापित कर दो, ताकि कोई विरोधी न रह जाए। महाभारत का युद्ध विजय युद्ध हो रहा था। एक की हार, दूसरे की जीत। एक को जीवन, दूसरे को मृत्यु। और द्रोणाचार्य दुर्योधन को कहते हैं– "हम लोगों के यहाँ एकत्र होने का एक प्रयोजन है। वे लोग भी पूरे जोश से युद्ध करने को तैयार हैं और हम लोग भी। यदि मोर्चा मजबूत है तो मोर्चे को तोड़ने वाला भी मजबूत है। यह कोई खेल नहीं है। इसीलिये तुम निराश मत होओ। हमको इतना बतला दो कि पाण्डवों के पक्ष में कौन-कौन युद्ध कर रहे हैं ताकि हम भी जान लें कि उनमें किस प्रकार के योद्धा हैं, किस प्रकार के युद्ध कौशल वाले लोग हैं।" जब द्रोणाचार्य ने दुर्योधन से यह प्रश्न किया, तब दुर्योधन अगले श्लोकों में कहता है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥4॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥5॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥6॥

अर्थ

इस सेना में बड़े-बड़े धनुषों वाले भीम और अर्जुन के समान शूरवीर हैं; सात्यिकी और विराट् तथा राजा द्रुपद जैसे महारथी हैं, धृष्टकेतु और चेकितान तथा बलवान् काशीराज, पुरुजित, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदी के पाँचों पुत्र हैं, जो सभी महारथी हैं।

व्याख्या

दुर्योधन ने द्रोणाचार्य जी के प्रश्न के उत्तर में पाण्डव सेना के सभी वीरों का वर्णन किया कि वे सभी महारथी हैं, बड़े वीर हैं। इनमें राजा विराट् अभिमन्यु के ससुर हैं, द्रौपदी के पिता द्रुपद हैं और इन सबके अन्दर क्रोध की ज्वालायें भड़क रहीं हैं। सभी प्रतिशोध की भावना से यहाँ आये हैं। जब प्रतिशोध की भावना से कोई अन्याय के विरुद्ध खड़ा होता है, तब उसकी शक्ति को समझना बहुत मुश्किल होता है, क्योंकि उस समय शक्ति में बहुत वृद्धि होती है। उसकी सामान्य शक्ति कई गुणा बढ़ जाती है। व्यक्ति अगर क्रोध में आ जाए, तो अपौरुषेय कर्म कर बैठता है, जिसकी लोग कभी कल्पना भी नहीं करते कि हम कर पायेंगे, या शारीरिक रूप से करने में सक्षम हैं। दुर्योधन कहता है – जितने महारथी वहाँ पर उपस्थित हैं, सबके भीतर क्रोध तथा प्रतिशोध की भावना है और उस भावना के कारण जिस उत्साह से वे लोग युद्ध करेंगे, उसका वर्णन हम नहीं कर सकते, इसीलिये हम भयभीत हैं।

प्रश्न – युद्धभूमि में भगवान् श्रीकृष्ण को 700 श्लोक बोलने का समय कहाँ से मिला?

उत्तर – गीता में सात सौ श्लोक अवश्य हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं – पहला, जैसे किसी आयोजन में तैयारियाँ पहले शुरू होती हैं और मुहूर्त बाद में आता है, वैसे ही महाभारत युद्ध की तैयारी तो पहले से ही शुरू हो गई थी, सब अपने-अपने मोर्चे पर डट रहे थे, खेमे लगा रहे थे, मोर्चाबन्दी हो रही थी। सब अपने-अपने अस्त्र-शस्त्रों को तेज कर रहे थे। प्रक्षेपास्त्रों की मारक दूरी नाप रहे थे। इसी बीच, जो तैयारी हो रही थी, अर्जुन उनका निरीक्षण करने निकला था। अत: गीता का उपदेश तो अर्जुन को युद्धभूमि में ही मिला, किन्तु उस समय मिला जिस समय युद्ध की तैयारियाँ चल रही थीं और युद्ध प्रारम्भ नहीं हुआ था।

मान लीजिये आपके घर में ही यज्ञ होता है तो लोग आकर अपना-अपना स्थान ग्रहण करने लगते हैं और आप बीच में घूम-घूम कर लोगों को देखते रहते हैं। इसी प्रकार अर्जुन भी युद्ध करने वाले दल का एक नेता था, योद्धा था, उसकी जिम्मेदारी तो नहीं थी कि वह अपनी सेना की मोर्चाबन्दी करे, जिम्मेदारी तो सेनापति की थी। अर्जुन केवल कृष्णजी के साथ घूम-घूम कर देख रहा था कि कहाँ क्या हो रहा है, उधर कौरव पक्ष में क्या हो रहा है, क्योंकि कौरव पक्ष में भी युद्ध के पहले तक आना-जाना लगा रहता था।

युधिष्ठिर अपने सब अस्त्र-शस्त्र त्याग कर भीष्म पितामह को प्रणाम करने के लिये उनके पास गये थे।

गीता को पढ़ने में केवल तीन घण्टे का समय लगता है। अत: यह संभव है कि जब इस प्रकार का आना-जाना, लेन-देन इधर-उधर से चल रहा था तब उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने तीन या चार घण्टे में, जो कि इतने बड़े युद्ध के आयोजन में बहुत ही कम समय है, पूरी गीता का उपदेश अर्जुन को दिया होगा।

दूसरी संभावना यह है कि सूत्र रूप में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह संदेश दिया होगा, जिसकी व्याख्या बाद में महर्षि वेदव्यास ने महाभारत के शान्ति पर्व में की। उदाहरणार्थ, अगर भगवान् आपके सामने अपने विश्वरूप में प्रकट हो जाएँ, तो आप तो उस रूप को देख ही रहे हैं, फिर क्या यह कहने की आवश्यकता होगी कि मेरा विश्व रूप देखो, यहाँ पर यह है तो वहाँ पर यह है? विश्वरूप देख लेने मात्र से भी सब ज्ञान हो जाता है। अत: जो चर्चा की गयी है कि मैं यह हूँ, मैं वह हूँ। सम्भव है कि महर्षि वेदव्यास ने बाद में यह वर्णन किया हो, क्योंकि पाठक तो विश्वरूप को देख नहीं रहे होंगे, इसलिये उस रूप को समझाने के लिये उन्होंने अपनी ओर से श्लोक लिखा हो। अत: ये दो संभावनायें हो सकती हैं। हम लोगों को यही देखना है कि गीता के रूप में जो अद्वितीय ग्रंथ हमारे सामने आया है, उसका क्या निहितार्थ है और उसकी शिक्षा को हम किस प्रकार जीवन में उतार सकते हैं। हमारा प्रयोजन इतना ही है। किसने क्या किया, किसने क्या नहीं, यह गौण है।

गीता में बाह्य युद्ध के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक युद्ध भी बहुत जबरदस्त हुआ है, जिसका संकेत पहले अध्याय में ही मिलता है। पहले अध्याय में ही मनोवैज्ञानिक भूमिका निर्धारित होती है। जब तक वह मनोवैज्ञानिक भूमिका हम लोगों को समझ में नहीं आयेगी, तब तक गीता दर्शन को भी हम लोग समझ नहीं पायेंगे। जैसे, *'केनापि देवेन हृदिस्थितेन'* – श्लोक तो गीता में कहीं कहा नहीं गया है, लेकिन वही ऐसी मानसिकता थी जिसके कारण युद्ध हुआ। अगर दुर्योधन के मन में ऐसी मानसिकता नहीं होती, तो युद्ध नहीं होता। और युद्ध नहीं होता, तो गीता का संदेश भी नहीं मिलता। इसीलिये मनोवैज्ञानिक भूमिका का वर्णन गीता के प्रथम अध्याय में हुआ है। इसमें, जितनी कुटिल चालें हैं, नीतियाँ हैं; और मन में जो विषाद, विक्षेप, उद्विग्नता है, उन सबके सम्बन्ध में प्रश्न किये गये हैं। उन्हीं प्रश्नों और प्रतिप्रश्नों का समाधान फिर

आगे के सत्रह अध्यायों में हुआ है। इसीलिये पहले अध्याय को ठीक से समझ लेना आवश्यक है, महत्त्वपूर्ण है।

यह महाभारत युद्ध के पूर्व का वर्णन है। दुर्योधन जब द्रोणाचार्यजी को अपने शिष्य के प्रति उकसा रहा था। द्रोणाचार्यजी ने एक जवाब दिया कि देखो, अगर व्यूह मजबूत है, दृढ़ है, तो उसको तोड़ने वाला भी मजबूत और दृढ़ है। इसीलिये सशंकित होने की कोई बात नहीं। फिर द्रोणाचार्यजी ने पूछा – तुमने पाण्डव पक्षों के वीरों के नाम तो बतला दिये कि उनकी ओर से कौन-कौन लड़ने के लिये यहाँ पर तैयार हैं, अब बतला दो कि हम लोगों के पक्ष में कौन-कौन वीर युद्ध करने के लिये तैयार हैं। तो उसके उत्तर में दुर्योधन आगे कहता है –

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥7॥
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥8॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥9॥

अर्थ

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! अपने पक्ष में जो भी प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिए। आपकी जानकारी के लिए मेरी सेना के जो-जो सेनापति हैं, उनको बतलाता हूँ। आप, द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रुवा हैं। और भी मेरे लिए जीवन की आशा त्याग देने वाले बहुत-से शूरवीर अनेक प्रकार के शस्त्रों से सुसज्जित और सब-के-सब युद्ध में प्रवीण हैं।

व्याख्या

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि कौरव सेना के सेनापति भीष्म पितामह थे, लेकिन फिर भी दुर्योधन ने भीष्म पितामह का नाम पहले नहीं लिया, यह उसकी चतुराई थी। वह सबसे पहले कहता है ‘भवान्’ मतलब आप, तब भीष्म पितामहश्च, भीष्मश्च, कर्णश्च, कृपश्च समितिंजय। उसने

'आप' क्यों कहा? नियमानुसार सेनापति का नाम पहले आना चाहिए और उसके बाद क्रमश: उन लोगों का नाम आना चाहिए जो पदक्रम के अनुसार आते हैं। जैसे सेना में अनेक पद होते हैं, और अन्त में सैनिक होता है। युद्ध विद्या में तो एक पद क्रम है, चाहे लेफ्टिनेन्ट हो, कर्नल हो, जनरल हो, कप्तान हो, सूबेदार हो या सैनिक हो, उनके नाम को क्रम में गिनना चाहिए, ऊपर से नीचे तक। अगर भीष्म पितामह जनरल थे तो द्रोणाचार्य मेजर जनरल थे।

अत: व्यावहारिक तथा न्यायिक दृष्टि से देखा जाये तो जनरल का नाम पहले और मेजर जनरल का नाम बाद में आना चाहिए, लेकिन दुर्योधन द्रोणाचार्य के पास एक उद्देश्य को लेकर पहुँचा था। उद्देश्य था उनको युद्ध के लिये सन्नद्ध करना, तैयार करना। क्यों? इसलिए कि प्रथम दिन का युद्ध धृष्टद्युम्न के साथ होने वाला था, जो पाण्डवों का सेनापति और द्रोणाचार्य का ही शिष्य था। अगर उसे शिष्य मानकर द्रोणाचार्य के भीतर करुणा का भाव आ जाता, तो वे सही प्रकार से युद्ध नहीं करते। यह मेरा ही शिष्य है, इसके साथ क्या युद्ध करना, संभवत: यह विचार मन में आता और वे पूर्ण शक्ति के साथ युद्ध नहीं करते। इसीलिये दुर्योधन बार-बार उनको प्रोत्साहित करने का, स्मारित करने का प्रयास कर रहा है कि आपको युद्ध करना होगा, चाहे आपका कोई शिष्य ही आपके विरोध में क्यों न खड़ा हो।

जब वह द्रोणाचार्यजी से बात कर रहा था तब भीष्म पितामह भी अपनी सेना का निरीक्षण करते हुए उधर से गुजरे। उन्होंने इस बात को सुन लिया और बिगड़ गये। कहा – 'दुर्योधन, सेनापति तो हम हैं और तुम इनका नाम पहले ले रहे हो।' दुर्योधन भी असमंजस में पड़ गया और उसने सोचा – 'बात तो न्यायसंगत है, परन्तु हम जो पासा खेल रहे हैं, उसमें हमको जीतना है।' तो उसने तुरन्त कहा – 'पितामह आप तो क्षत्रिय हैं और वर्ण व्यवस्था में क्षत्रियों का दूसरा स्थान है, ब्राह्मणों का स्थान पहले है। द्रोणाचार्य तो ब्राह्मण हैं। अब आप कहिये कि हम किसका नाम पहले लें। अगर युद्ध के नियम के विचार से हम आपका नाम लेते हैं, तो ठीक है, लेकिन हम तो अभी द्रोणाचार्यजी से बात कर रहे हैं, और उनके साथ हमें धर्म का आचरण करते हुए उसी आदर, श्रद्धा एवं सत्कार भाव से बात करनी पड़ेगी जो एक पूज्य को दिया जाता है। भले ही आप सेनापति हों, लेकिन द्विजोत्तम होने के नाते उन्हें आपसे भी ऊँचा पद मिला हुआ है, इसलिये पहले हमने उनका नाम लिया।' यह बात कहते

हुए दुर्योधन पितामह भीष्म को तो समझा देता है कि अभी हम द्रोणाचार्यजी को बतला दें कि किस प्रकार से हम लोगों की सेना के पक्ष में बड़े-बड़े बलवान् योद्धा हैं। जब भीष्म चले जाते हैं तब दुर्योधन आगे द्रोणाचार्यजी को एक बात और कहता है।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥10॥

अर्थ

पितामह भीष्म से रक्षित हमारी सेना अपर्याप्त है। और भीम द्वारा रक्षित पाण्डवों की सेना पर्याप्त है।

व्याख्या

यहाँ पर अपनी सेना को, जो कि ग्यारह अक्षौहिणी थी, उसने कह दिया अपर्याप्त है। अपर्याप्त का मतलब कम है और सक्षम नहीं है। पाण्डवों की सेना, जो मात्र सात अक्षौहिणी थी, उसको कह दिया पर्याप्त है, ज्यादा है, बलवान् है, सक्षम है। यहाँ पर वह ऐसा क्यों कह रहा है?

अपर्याप्त और पर्याप्त का दूसरा अर्थ भी होता है। अगर निराशावादी दृष्टिकोण से देखा जाए तो उसका कहना ठीक है, क्योंकि वह तो पाण्डवों की व्यूह रचना को देखकर पहले ही भयभीत हो गया है। व्यूह भी इस तरह रचा हुआ था कि एक-एक व्यक्ति अनेक रूपों में दिखलायी देता था, सेना असीम दिखायी देती थी। दुर्योधन निराश हो गया था कि पता नहीं इस युद्ध से मुझको क्या मिलने वाला है, विजय या पराजय। पाण्डवों की सेना संख्या में तो कम है, लेकिन दिखलायी बहुत बड़ी देती है। हो सकता है इसी भाव से आशंकित हो उसने यहाँ पर कहा कि हमारी सेना, जिसकी रक्षा भीष्म पितामह कर रहे हैं, मुझे कम ही जान पड़ रही है, अपर्याप्त जान पड़ रही है और भीम जिस सेना के रक्षक हैं, वह मुझे बहुत ही विशाल जान पड़ रही है।

भीम और भीष्म, दोनों का नाम उसने लिया, क्योंकि कौरवों के पक्ष में भीषण शक्ति वाले भीष्म पितामह थे और पाण्डवों के पक्ष में भीषण शक्ति वाले भीम थे। तो यहाँ पर जो सर्वश्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान् योद्धा उसको दोनों पक्षों में दिखलायी दिये, उनका ही नाम लेता है। देखा जाये तो नियमानुसार

सेनापति का नाम लेना चाहिए, यथा–भीष्म द्वारा रक्षित कौरवों की सेना और धृष्टद्युम्न द्वारा रक्षित पाण्डवों की सेना, लेकिन उसने धृष्टद्युम्न का नाम नहीं लिया, भीम का नाम लिया। यहाँ पर उसका संकेत है कि हम लोगों की सेना में बड़े-बड़े वीर हैं ही और पाण्डवों की सेना में भी बड़े-बड़े वीर हैं। हम लोगों की सेना एक ऐसे व्यक्ति द्वारा रक्षित है, जिनके भीतर भीषण संकल्पशक्ति है–भीष्म, और पाण्डवों की सेना में इन्हीं के तुल्य भीषण बलशाली भीम है।

भीष्म पितामह के भीतर हर प्रकार का बल था। एक तो वे ब्रह्मचारी थे। ब्रह्मचर्य का तेज उनमें विद्यमान था। इच्छा मृत्यु का वरदान उनको प्राप्त था। इच्छा मृत्यु उसी को प्राप्त होती है जिसके भीतर प्रचण्ड संकल्प शक्ति हो। अगर सामान्य लोग इच्छा करें कि आज नहीं, कल मरेंगे, तो वह संकल्पशक्ति काम देने वाली नहीं है, क्योंकि उन्होंने अपनी संकल्पशक्ति को तो कभी जाग्रत करने का प्रयास किया नहीं, अपने मन के बहाव में इधर-उधर भटकते रहते हैं। संकल्प शक्ति उसी की दृढ़ होती है, जो अपने जीवन में हर प्रकार के संयम का पालन करता है। भीष्म को ऐसी संकल्पशक्ति इन्द्रिय संयम, मन:संयम और आत्मशक्ति संयम के कारण ही प्राप्त हुई। वे ही ऐसे योद्धा थे, जिनके पास समस्त पाण्डव सेना को अकेले नष्ट करने का सामर्थ्य था।

दुर्योधन ने अपने पक्ष के सबसे बड़े वीर भीष्म पितामह का नाम लेते हुए कहा कि भले ही ये हमारे सेनापति हैं, लेकिन फिर भी मुझे अपनी सेना कमजोर ही मालूम पड़ रही है। दूसरी तरफ है भीम। भीम ने भी भीष्म की तरह प्रतिज्ञा की थी। भीम की प्रतिज्ञायें थीं कि मैं दु:शासन के खून से द्रौपदी के खुले बालों को सींचूँगा और दुर्योधन की जाँघों को तोड़ूँगा। शारीरिक रूप से भी सबसे अधिक बलवान् भीम ही था।

इस प्रकार दोनों पक्षों में महान् संकल्पशक्ति वाले व्यक्तित्व विद्यमान थे, भीष्म और भीम, जिनका नाम दुर्योधन उनकी संकल्पशक्ति की तीव्रता को देखते हुए लेता है। भीष्म ने पाण्डवों के नाश का संकल्प तो नहीं लिया था, इसलिये दुर्योधन यह भी सोचता था कि कहीं ये पाण्डवों के प्रति कमजोरी न दिखाएँ। लेकिन भीम ने कौरवों के नाश का संकल्प लिया था। महाभारत युद्ध में भीम ही एक ऐसा योद्धा था, जिसने सभी कौरवों को मारा। दुर्योधन के निन्यानवे भाइयों को भीम ने ही मारा था, किसी दूसरे योद्धा ने नहीं। भीम

ने पहले से ही चेतावनी दे दी थी कि तुम लोग दूसरों से लड़ो, लेकिन जितने कौरव भाई हैं, उन्हें केवल मैं मारूँगा।

भीम के मन में प्रतिशोध की भावना थी। अगर कोई महान् बलशाली प्रतिशोध की भावना लेकर सामने आ जाए, तो आदमी काँप जाएगा। इसी भय से दुर्योधन कहता है कि उधर की सेना पर्याप्त है, क्योंकि भीम ने तो संकल्प ले लिया है कि वह मेरे भाइयों को मारेगा और मेरे भाई जब मर जायेंगे तब युद्ध को आगे बढ़ाने के लिए कौन रहेगा। भीष्म पितामह, जिनके भीतर प्रतिशोध की कोई भावना है ही नहीं, उनके द्वारा रक्षित मेरी सेना सुरक्षित नहीं है, क्योंकि वे तो कह सकते हैं कि मैं बूढ़ा हो गया हूँ, थक गया हूँ।

जब वह यह बात कर लेता है, तब देखता है कि दूर युधिष्ठिर अपना धनुष-बाण छोड़कर, रथ त्याग कर, कवच वगैरह सब उतार कर अपने भाइयों के साथ, हाथ जोड़कर भीष्म पितामह के पास आशीर्वाद लेने के लिये आ रहे हैं। पुन: द्रोणाचार्य जी को कहता है, उधर का दृश्य देखिये। ये पाँचों भाई भीष्म के पास आ रहे हैं। जब उसने देखा कि पाँचों भाई झुककर भीष्म पितामह को प्रणाम कर रहे हैं और भीष्म पितामह हाथ ऊपर उठाकर उनको आशीर्वाद दे रहे हैं, तो उसने कहा कि युद्धभूमि में तो आशीर्वाद दो प्रकार का ही होता है – या तो *'विजयी भव'* का आशीर्वाद देंगे या *'आयुष्मान् भव'* का। अगर दोनों में से कोई एक दे दें, तो वह हमारे विपरीत ही होगा। यह सोचकर वह बहुत घबरा गया। और घबरा कर वह अपनी सेना से कहता है –

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥11॥

अर्थ

इसलिए सब मोर्चों पर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आप सभी लोग नि:सन्देह भीष्म पितामह की ही सब ओर से रक्षा करें।

व्याख्या

वह द्रोणाचार्य तथा अन्य योद्धाओं को कहता है कि पितामह भीष्म तो आशीर्वाद दे रहे हैं। और पुरुषों को बुजुर्गों की ओर से केवल दो प्रकार के आशीर्वाद दिये जाते हैं – *'आयुष्मान् भव'*, मतलब लम्बे काल तक जीयो, दीर्घायु होओ और

'विजयी भव', विजयी होओ। उन्होंने पाण्डवों को अगर विजयी भव न बोल कर आयुष्मान् भव भी कहा होगा, तो उसका मतलब पाण्डव मरने वाले नहीं हैं और मुझे हमेशा तंग करते रहेंगे। उन लोगों के मन में प्रतिशोध की भावना है, इसलिये वे लोग तो हम लोगों को मारने से चूकेंगे नहीं। भीष्म पितामह को मार देंगे। दुर्योधन को मालूम था कि शिखण्डी भी वहाँ पर है और उसने भीष्म पितामह को मारने का संकल्प लिया है।

दुर्योधन कहता है, हम लोगों को तो किसी-न-किसी हालत में मरना ही है। शिखण्डी का संकल्प है भीष्म पितामह को मारने का; द्रोणाचार्य को मारने का संकल्प है धृष्टद्युम्न का, जो राजा द्रुपद का पुत्र था। और मान लिया जाए कि अगर शिखण्डी भीष्म पितामह को नहीं भी मारता है, किन्तु उनका अंग भंग कर देता है, तो भीष्म पितामह क्या करेंगे? कुछ नहीं कर पायेंगे। अगर धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्य को न मार कर उनका केवल अंग भंग कर दे, तो द्रोणाचार्य क्या कर पायेंगे? उधर तो मारने वाले तैयार खड़े हैं, और इधर हमारे पक्ष में मारने के लिए कोई तैयार ही नहीं, क्योंकि भीष्म पितामह के दिल में पाण्डवों के प्रति कोमल भावना है। द्रोणाचार्य और कृपाचार्य के दिल में भी पाण्डवों के प्रति कोमल भावना है और कर्ण तो युद्ध में आया ही नहीं अभी तक।

कर्ण रहता तो हो सकता है दुर्योधन ये सब बातें नहीं करता, कोई दूसरी बात करता, लेकिन कर्ण ने तो कहा था कि जब तक भीष्म हैं, मैं युद्ध भूमि में प्रवेश नहीं करूँगा। भीष्म पितामह ने भी कूटनीति अपनायी थी। वे जानते थे कि कर्ण कुन्ती एवं सूर्य का पुत्र है। उसको उन्होंने संकेत भी दिया था, और बार-बार उसे सूतपुत्र कह कर ऐसी परिस्थिति खड़ी कर दी कि कर्ण क्रोध में आया और उसने कहा कि जब तक ये मेरा आदर नहीं करते, सम्मान नहीं करते, तब तक मैं युद्धभूमि में नहीं जाऊँगा।

पितामह तो परोक्ष रूप से पाण्डवों का पक्ष ले रहे थे, अत: कर्ण को बाहर कर दिया। इसको कहते हैं कूटनीतिक युद्ध। कौरवों के पक्ष में और जितने योद्धा थे, जैसे, शल्य, वे तो पाण्डवों के मामा थे। उनके दिल में भी पाण्डवों के प्रति कोमल भावना थी। किस पाण्डव के ऊपर शस्त्र चलायेंगे, किस को मारेंगे? वे बहुत दुविधा में पड़े हुए थे।

यह सब देखकर दुर्योधन को युद्ध के पहले ही अपनी हार दिखलायी दे रही थी। वह सोच रहा था – पता नहीं मैंने क्यों युद्ध की घोषणा कर दी, लेकिन मेरी हार निश्चितप्राय है। किन्तु उसमें फिर एक क्षत्रिय मानसिकता प्रबल हुई

कि जो निर्णय हमने ले लिया है, उसे मर कर भी पूरा करेंगे। प्राण जाये पर वचन न जाये। इसीलिये वह अपने पक्ष के सभी वीरों को कहता है कि अभी हमारे सेनापति पितामह भीष्म हैं और उनको मारने के लिये शिखण्डी वहाँ पर तैयार खड़ा है। पाण्डव आकर *'आयुष्मान् भव:'* का आशीर्वाद लेकर चले गये हैं। अर्थात् पाँचों पाण्डवों में से कोई मरने वाला है नहीं। इसलिये वह बार-बार अपने वीरों को उत्साहित कर रहा है कि तुम सब अपने-अपने मोर्चे पर डटे रहो और मिलकर हर प्रकार से पितामह भीष्म की रक्षा करो। इस प्रकार दुर्योधन अपनी कूटनीति से अपने पक्ष के सभी योद्धाओं को प्रोत्साहित कर रहा था। स्वयं घबराया हुआ था और अपने आपको आश्वस्त करने के लिये वह अनेक प्रकार के यत्न कर रहा था।

भीष्म पितामह उस समय अपनी सेना का निरीक्षण कर रहे थे। जब उन्होंने देखा कि दुर्योधन घबराया हुआ है, विचलित हो रहा है, तो दुर्योधन का मनोबल बढ़ाने के लिये उन्होंने अपना शंख बजाया। यह तो सब मानते हैं कि किसी काम को करने के लिए मन का शान्त एवं एकाग्र होना आवश्यक है। चञ्चल वृत्ति में कोई काम ठीक तरीके से हो नहीं पाता, विशेषकर उस समय जब व्यक्ति के भीतर भय की भावना प्रधान हो जाती है। भय और असुरक्षा की भावना से व्यथित मन कभी सही निर्णय नहीं ले सकता, न विवेक का प्रयोग कर सकता है, न किसी कर्म को सुचारु रूप से कर सकता है। अत: उस समय यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति को ढाड़स बँधाया जाए, उसको प्रोत्साहित किया जाए।

यह तो सामान्य बुद्धि की बात है। आज का मनोविज्ञान भी तो यही कहता है कि अगर किसी की मानसिक चिकित्सा करनी हो तो उसकी क्या तकलीफ है, क्या समस्या है, यह भूलकर उसके मन और भावना के भीतर शक्ति का संचार किया जाए। जब उस व्यथित व्यक्ति के मन में, भावना में विचार शक्ति का संचार होता है, स्फूर्ति का संचार होता है, तब फिर मन से निपटना भी संभव होता है। निराशा या विषाद की जो स्थिति उत्पन्न हो जाती है, मनुष्य को उससे ऊपर उठाने के लिये उसके साहस को बढ़ाना आवश्यक होता है। अत: जब भीष्म पितामह ने देखा कि दुर्योधन भयभीत हो कर अपने सभी योद्धाओं को आदेश दे रहा है कि तुम लोग सब मोर्चे पर डटे रहो और भीष्म पितामह की रक्षा करो, जो हमारे सेनापति हैं, तो यह बात सुनकर भीष्म पितामह अपना शंख बजाते हैं।

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥12॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥13॥

अर्थ

कौरवों में वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्म ने उस दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करने के विचार से उच्च स्वर से सिंह की दहाड़ के समान गरजकर शंख बजाया। इसके पश्चात् शंख और नगाड़े तथा ढोल, मृदङ्ग और नरसिंघे आदि बाजे एक साथ ही बज उठे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ।

व्याख्या

भीष्म पितामह ने जब अपना शङ्ख बजाया तब अपनी सेना को वह एक संकेत भी था कि युद्ध शुरू होने वाला है, तुम लोग तैयार हो जाओ। उस समय सांकेतिक रूप से शङ्ख, भेरी, नगाड़ा और जितने युद्ध वाद्य होते हैं, उनके माध्यम से ही सूचना का आदान-प्रदान किया जाता था। सेनापति के पक्ष से जब किसी प्रकार का संकेत दिया जाना होता था तो सेनापति अपना शङ्ख बजाते या अपने दल में, मोर्चे में जो लोग डटे रहते थे उनके वाद्यों के द्वारा सेना की दूसरी टुकड़ियों को संदेश पहुँचाया जाता था। भीष्म पितामह ने स्वयं अपना शङ्ख बजाया। यह भी स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि दुर्योधन के मन में हर्ष उत्पन्न करने के लिये, उसके मन को शान्त करने के लिये शङ्ख ध्वनि हुई कि चिन्ता नहीं करो, हम लोग तत्पर हैं। विजय भले ही किसी के भी पक्ष में जाये, हम लोग युद्ध के लिये तैयार हैं। जब इस प्रकार का शङ्ख बजा, तब अन्य टुकड़ियों के नायकों एवं प्रमुखों ने भी सेनापति का संकेत पाकर अपने-अपने शङ्ख और युद्ध वाद्य बजाये।

सामान्य रूप से वाद्यों को अपने भारतीय दर्शन में तीन वर्गों में बाँटा गया है। सात्त्विक वाद्य, राजसिक वाद्य और तामसिक वाद्य। ये वाद्य विशेष अवसरों पर बजाये जाते हैं। सात्त्विक वाद्य या सात्त्विक संगीत उस समय बजाया जाता है, जब पूजा, अर्चना, हवन, अनुष्ठान, यज्ञ इत्यादि सम्पन्न होते हैं। जो संगीत या वाद्य देवों के लिये बजाये जाते हैं, वे सात्त्विक कहलाते हैं।

वे वाद्य या संगीत राजसिक कहलाते हैं, जो मनुष्यों के मनोरंजन के लिये या उत्सवों में बजाये जाते हैं। दूसरे प्रकार के राजसिक वाद्य वे हैं जो युद्धभूमि में बजते हैं। युद्ध के लिये तैयार, तत्पर राजा या सेनापति का आदेश जिन वाद्यों के माध्यम से एक से दूसरी जगह दिया जाता है, वे राजसिक वाद्य कहे गये हैं।

तीसरा है तामसिक संगीत और तामसिक वाद्य, जो शवयात्रा में बजाये जाते हैं। जब चार लोग कंधे पर अर्थी लेकर राम नाम सत्य कहते हुए जाते हैं, और उनके सामने एक-दो ढोलक बजाने वाले चलते हैं, वह तामसिक संगीत हुआ, अर्थात् जिस संगीत के द्वारा हम शोक प्रकट करें, जिस संगीत के द्वारा दुःख प्रकट हो।

यहाँ चर्चा हो रही है राजसिक ध्वनि की। जहाँ इतनी बड़ी सेना खड़ी है और पूरी सेना एक ही साथ अपना नगाड़ा, बिगुल, ढोल बजाना शुरू कर दे, तब सोचिये कितना कोलाहल हुआ होगा। युद्ध का राजसिक संगीत तो ऐसा होता है कि कायरों के तो दिल दहल जाते हैं, लेकिन उसमें भाग ले रहे योद्धाओं का उत्साह बढ़ता है। मान लीजिये राष्ट्रीय संगीत यहाँ पर बजने लगे, तो सब एकदम सीधे खड़े हो जायेंगे, क्योंकि उस संगीत की अपनी एक तरंग है, प्रभाव है। संगीत का, वाद्य यन्त्रों का, उनकी ध्वनि का असर मनुष्य के शरीर, मन और मस्तिष्क पर निश्चित रूप से पड़ता है।

जब कौरव पक्ष से यह ध्वनि होने लगी और पाण्डव पक्ष को संकेत मिल गया कि वे लोग युद्ध के लिये तैयार हैं, तब उन्होंने भी सूचना दी कि हम लोग भी तैयार हैं।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥14॥
पाञ्चजन्यं हृषिकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥15॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥16॥

अर्थ

इसके अनन्तर सफेद घोड़ों से युक्त उत्तम रथ में बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अलौकिक शङ्ख बजाये। श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक, अर्जुन

ने देवदत्त नामक और भयानक कर्म वाले भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशङ्ख बजाया। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्त विजय नामक और नकुल तथा सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाये।

व्याख्या

जब पाण्डवों ने अपना शङ्ख बजाया और कौरवों को सूचना दी कि हम लोग भी युद्ध के लिये तैयार हैं और जब यह संकेत मिलता है कि युद्ध की शुरुआत हो सकती है, तब उस समय संजय ने, जो धृतराष्ट्र के पास बैठे हुए थे, कौरव पक्ष का तो वर्णन कर दिया कि सिंह के समान गर्जन करने वाले भीष्म ने बड़े जोर से अपना शङ्ख बजाया, उनके शङ्ख की आवाज को सुनकर कौरव पक्ष के वीरों ने भी अपना-अपना शङ्ख बजाया, जिससे बहुत ही भयंकर ध्वनि उत्पन्न हुई, जो कायरों के हृदय को विदीर्ण कर देने वाली थी।

लेकिन अब संजय की चालाकी आती है। इतना तो उन्होंने कौरव पक्ष के बारे में कह दिया। फिर जब पाण्डव पक्ष की बारी आती है अपनी तैयारी की घोषणा करने की, तो कहता है – *'ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ'* – श्वेत घोड़ों से युक्त बहुत बड़े रथ में बैठे हुए, *'माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः'* – माधव, अर्थात् श्रीकृष्ण और पाण्डव ने भी अपने दिव्य शङ्ख बजाये। यहाँ पर पाण्डव शब्द अर्जुन की ओर संकेत करता है।

एक बात तो संजय ने कही कि बहुत विशाल रथ था, उस रथ में सफेद रंग के घोड़े जुते हुए थे। कौरव पक्ष के बारे में वर्णन करते हुए तो कहीं रथ की चर्चा ही नहीं हुई। फिर उसने कहा कि श्रीकृष्ण और अर्जुन ने अपने दिव्य शङ्ख बजाये। इतना ही कहकर वह चुप नहीं हुआ, पाण्डवों के पास जो शङ्ख थे, उसने सबका नाम लिया। उसने दुर्योधन द्वारा शङ्ख ध्वनि की चर्चा भी नहीं की। यहाँ तक कि भीष्म के शङ्ख का भी नाम नहीं लिया, लेकिन पाण्डव पक्ष के जितने मुख्य योद्धा थे और जिन लोगों ने अपना-अपना बजाया था, सभी के शङ्खों के नाम लेकर कहा कि उन्होंने अपना यह शङ्ख बजाया, वह शङ्ख बजाया।

यहाँ पर संजय ने इतनी चर्चा की, क्योंकि वह जानता था कि जहाँ श्रीकृष्ण हैं, अर्जुन और वीर पाण्डव हैं, सत्य का पक्ष तो उन्हीं की ओर है। जहाँ सत्य है, वहाँ विजय है। जहाँ विजय है, वहाँ श्री है। जहाँ श्री है, वहाँ विभूति है।

अत: जीत तो उन्हीं की होगी। वह इस बात को समझते हुए सांकेतिक रूप से धृतराष्ट्र को भी कह रहा है कि जीत तो उन्हीं लोगों की निश्चित है। अगर आपके सामने भी दो पक्ष हों, तो आप किसका पक्ष लेंगे, जो हारेगा उसका, या जो जीतेगा उसका? यह तो स्वाभाविक है कि जो जीतेगा उसका ही पक्ष लेंगे। इसी प्रकार संजय भी धृतराष्ट्र को अनेक प्रकार से कह रहा है कि जीत तो उन्हीं लोगों की होगी और मैं प्रार्थना करता हूँ कि भगवान् आपको सद्बुद्धि दे, ताकि आप अब भी, युद्ध के शुरू होने के पहले पाण्डु पुत्रों से पारस्परिक समझौता करा दें, ताकि यह विनाश न हो।

लेकिन धृतराष्ट्र सुनने वाले नहीं थे। उन्होंने कहा कि तुम बोलते जाओ, मुझे केवल सुनना है, क्या हो रहा है। अभी जो निर्णय ले लिया गया है, उसमें मैं हस्तक्षेप नहीं करूँगा। जो जीते सो जीते, जो मरे सो मरे। अगर मेरे पुत्र मरते हैं, मुझे दु:ख होगा, मैं झेलूँगा। अगर पाण्डु के पुत्र मरते हैं, मुझे दु:ख होगा, उसे भी झेल लूँगा। दु:ख तो मुझको दोनों प्रकार से होना है। एक में अति दु:ख होगा, दूसरे में कम दु:ख होगा, लेकिन दु:ख तो होगा ही।

युद्ध भूमि में जब पाण्डवों के पक्ष से भगवान् कृष्ण और अर्जुन ने अपने शङ्ख बजाये, तब दुर्योधन को बहुत गुस्सा आया। वह पाण्डवों की ओर गया और उसने कहा—क्या तुम लोगों को युद्ध का नियम नहीं मालूम कि सेनापति ही शङ्ख बजाता है। कृष्ण तो सेनापति नहीं हैं, न योद्धा हैं, वे तो केवल सारथी के रूप में इस युद्ध में भाग ले रहे हैं। उनको शङ्ख बजाने का अधिकार कैसे? युद्ध की घोषणा सेनापति ही करेगा, सारथी नहीं। फिर अर्जुन भी सेनापति नहीं है। सेनापति तो धृष्टद्युम्न है। अर्जुन ने और पाण्डव वीरों ने भी अपनी मर्यादाओं को तोड़कर, नियम भंग करके अपना-अपना शङ्ख बजाया है। यह बात गलत है। ऐसा कहकर वह सीधा युधिष्ठिर को डाँटने लगा।

युधिष्ठिर चुपचाप सुनते रहे, पर अर्जुन से नहीं रहा गया। वह कहता है—दुर्योधन, तुम इतना क्षुब्ध क्यों हो रहे हो, जाकर अपनी तैयारी करो। उधर से तुम्हारे सेनापति पितामह भीष्म ने तो शङ्ख बजा दिया कि लोग तैयार हों, और इधर से अगर कृष्ण भगवान् ने अपना शङ्ख बजाया, तो उसमें कौन-सी गलती हुई है? मैं तुम्हें स्मरण कराता हूँ। तुमको याद है, जिस दिन तुम और मैं, दोनों कृष्ण भगवान् के पास पहुँचे थे उनकी सहायता के लिए, और उस समय कृष्ण भगवान् सो रहे थे। तुम पहले पहुँचे। तुमने सोचा कि मैं

तो हस्तिनापुर सम्राट् का बेटा हूँ, राजा हूँ, कृष्ण भगवान् सो रहे हैं, मैं कहाँ बैठूँ, कमरे में कुछ नहीं है और मेरा सम्मान नहीं हो रहा है। तब तुमने देखा कि कृष्ण जी के बिस्तर की बगल में एक मेज रखी है, जिसके ऊपर पानी रखा है, तुमने पानी को नीचे रखा और मेज पर बैठ गये, सिरहाने की तरफ। थोड़ी देर के बाद मैं पहुँचा। मैं बैठा नहीं, कृष्ण भगवान् के पैरों के पास खड़ा रह गया, हाथ जोड़कर।

थोड़ी देर के बाद कृष्ण भगवान् उठे। उन्होंने मुझे पैरों की तरफ खड़ा देखा, तो कहा – अर्जुन तुम यहाँ क्या कर रहे हो, कब से आये हो। तो तुम, जो उनके सिरहाने की तरफ बैठे हुए थे, कहते हो – "नहीं, मैं पहले आया हूँ।" तब कृष्ण भगवान् को पता चला कि तुम भी वहाँ पर विराजमान हो। आराम से उनकी मेज पर बैठे हुए हो। फिर उन्होंने कहा कि ठीक है, तुम दोनों आये हो, बोलो मैं क्या सेवा करूँ। तुमने कहा कि हमको सैन्य बल चाहिए, यादवी सेना। कृष्ण भगवान् ने यादवी सेना तुम्हें दे दी, यह कह कर कि मैं तो युद्ध करूँगा नहीं, शस्त्र नहीं उठाऊँगा युद्ध में। तुम्हीं हमारी सब सेना ले जाओ। फिर कृष्ण भगवान् ने हमसे पूछा कि अर्जुन, तुमको क्या चाहिए, तो मैंने केवल एक प्रार्थना की उनसे –

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

कि मुझे आपके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। केवल आपका साया रहे और कुछ नहीं। उसी समय कृष्ण भगवान् ने सारथी होने का संकल्प लिया कि ठीक है, हम तुम्हारा रथ हाँकेंगे, और उसी समय मैंने अपने समस्त कर्मों एवं राज्य को उनके चरणों में समर्पित कर दिया। तब सेनापति चाहे जो भी बने, मैं बनूँ या युधिष्ठिर बनें या भीम बनें या और कोई बने, समर्पित तो सब इन्हीं के प्रति हैं। जिनकी आज्ञा के बिना संसार में एक पत्ता भी नहीं हिलता है, उनकी आज्ञा लिये बिना हमारा सेनापति किस प्रकार शङ्ख बजाएगा? पाण्डवों के मन में कृष्ण भगवान् के प्रति जो भावना है, श्रद्धा है, उसको कभी नहीं भूलना और उसी श्रद्धा के कारण निर्विवाद रूप से कृष्ण भगवान् को ही पहला शङ्ख बजाना चाहिए।

इस प्रकार अर्जुन ने दुर्योधन को फटकार दिया कि तुम जाओ, अपनी सेना को संभालो, हम लोगों की चिन्ता नहीं करो। दुर्योधन को यह बात समझ में नहीं आयी, उसकी तो बुद्धि उलटी हो गयी थी। वह अपने पक्ष की ओर लौट गया।

इसके बाद, पाण्डव पक्ष के दूसरे वीर, जो दुर्योधन को आते देख रुक गये थे शङ्ख बजाने से, देखने लगे थे कि वह क्यों आ रहा है। कहीं यह कहने तो नहीं आया है कि अभी हम लोग तैयार नहीं हैं, आप लोग अपने शङ्ख मत बजाइये। जब उन्होंने देखा कि दुर्योधन वापस चला गया है, तो वे लोग भी अपने-अपने शङ्ख बजाने लगे।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥17॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥18॥

अर्थ

श्रेष्ठ धनुष वाले काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट् और अजेय सात्यिकी, राजा द्रुपद एवं द्रौपदी के पाँचों पुत्र और बड़ी भुजा वाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु, इन सभी ने, हे राजन्! सब ओर से अलग-अलग शंख बजाये।

व्याख्या

एक छोटे-से आयोजन में हम लोग भाग-दौड़ करते रहते हैं, एक-दूसरे से बातचीत करते रहते हैं। जहाँ इतना बड़ा युद्ध होने वाला था, वहाँ चुपचाप दोनों सेनायें जड़वत् आमने-सामने खड़ी हैं और यन्त्रवत् लोग अपना शङ्ख फूँके जा रहे हैं, ऐसा तो नहीं हुआ होगा। सेना की तैयारी, उनकी देख-रेख, उनकी व्यवस्था, बीच में लोगों का उत्साहपूर्वक आना-जाना, बीच में संभावित वार्ता, ये सब घटनायें तो निश्चित रूप से घटी हैं। गीता में तो बहुत संक्षेप में मुख्य घटनाओं का ही वर्णन किया गया है, लेकिन हम लोगों का प्रयोजन है, मानसिकता को भी जानना – पाण्डवों का क्या दृष्टिकोण था; अर्जुन की क्या मनःस्थिति थी; दुर्योधन का क्या विचार था; धृतराष्ट्र की क्या भावना थी,

संजय कितनी निपुणता के साथ बतला रहा था, ऐसा हो रहा है, वैसा हो रहा है, जैसा कि गीता में उल्लेख है। इन सब बातों को समझना आवश्यक है, तभी गीता का संदेश समझ में आयेगा, अन्यथा नहीं।

पाण्डव पक्ष के वीरों में श्री कृष्ण भगवान् के प्रति असीम श्रद्धा थी और वे जानते थे कि जिस ओर श्रीकृष्ण भगवान् हैं, उस ओर सत्य है, उस ओर धर्म और नीति है। जिस पक्ष में ये सब हैं, निश्चित रूप से उस पक्ष की विजय होगी। लेकिन जिसके कारण यह सब है, उसके आदेश के बिना कुछ काम भी नहीं होगा। कृष्ण भगवान् के ही कारण ये सब उनके पक्ष में था। जब पाण्डव पक्ष के समस्त वीरों ने शंख ध्वनि की तो प्रचण्ड घोष हुआ।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥19॥

अर्थ

और उस भयानक शब्द ने आकाश और पृथ्वी को भी गुंजाते हुए धार्तराष्ट्रों के, अर्थात् आपके पक्ष वालों के हृदय विदीर्ण कर दिये।

व्याख्या

धृतराष्ट्र के पुत्र ही नहीं, बल्कि जो चराचर सृष्टि है, वह इनके नाद से गुंजित हो उठी। उसी समय दुर्योधन को यह भी मालूम पड़ गया कि आवाज करने में भी पाण्डव लोग कमजोर नहीं हैं, सेना का पलड़ा तो भारी था कौरवों का, फिर भी दुर्योधन को पाण्डवों की सेना बहुत विशाल दिखलायी दी। जब कौरव पक्ष की ओर से शङ्ख बजा था, तो उसकी आवाज से किसी पर कुछ अप्रत्याशित प्रभाव नहीं हुआ था, लेकिन जब पाण्डव पक्ष की ओर से आवाज हुई, तो सबका हृदय थरथराने लगा, धरती काँप उठी। जहाँ श्रीकृष्ण भगवान् तथा उनके पाण्डव वीर न्याय और धर्म की आवाज उठायें, वहाँ कौन कँपित नहीं होगा?

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥20॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥21॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥22॥

अर्थ

हे पृथिवीनाथ! शङ्ख आदि बजने के बाद कपिध्वज अर्जुन ने मोर्चा बाँधकर डटे हुए धृतराष्ट्र के सम्बन्धियों को देखकर, उस शस्त्र चलने की तैयारी के समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण से यह वचन कहा – हे अच्युत्! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दीजिए और जब तक मैं युद्ध क्षेत्र को भलीभाँति देख न लूँ कि इस युद्ध रूप उद्योग में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना योग्य है, तब तक उसे खड़ा रखिये।

व्याख्या

यहाँ पर दो-तीन ध्यान देने योग्य बातें कही गयी हैं। पहली बात, अर्जुन को संजय कपिध्वज के नाम से और धृतराष्ट्र को पृथिवीपति के नाम से सम्बोधित करता है। पृथिवीपति इसलिए कहता है कि वे सबसे बड़े साम्राज्य के राजा थे। दूसरी बात कृष्ण को अर्जुन हृषिकेश तथा अच्युत के नाम से सम्बोधित करता है। अर्जुन कहता है – "मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दीजिये, ताकि मैं देख सकूँ किन-किन योद्धाओं के साथ मुझे युद्ध करना है।"

अर्जुन को कपिध्वज नाम से इसलिए सम्बोधित किया गया कि उसके रथ के ऊपर लगे ध्वज पर कपि, अर्थात् हनुमानजी प्रतीक रूप में थे। इस प्रतीक के साथ एक कथा जुड़ी हुई है। जब पाण्डव अपने देश निष्कासन के समय घूम रहे थे तब एक बार एक नदी के किनारे बह कर आये एक फूल को देख द्रौपदी ने भीमसेन से वैसा ही फूल पाने की इच्छा प्रकट की। तो भीमसेन ने कहा कि ठीक है, मैं जाता हूँ। नदी की धारा में यह फूल बह रहा है, इसका मतलब है कि ऊपर नदी के स्रोत के पास या कहीं किनारे पर इसका कोई पेड़ होगा, वहाँ से तोड़कर ले आऊँगा। वे नदी के किनारे-किनारे चलते गये। इस बीच हनुमान जी भीमसेन से मिलते हैं। भीमसेन को हनुमानजी का छोटा भाई माना जाता है। भीम ने पवन के अंश से जन्म लिया था और हनुमानजी भी पवनपुत्र थे।

हनुमान त्रिकालद्रष्टा थे, उनको मालूम था कि भविष्य में क्या होने वाला है। उसकी भी तैयारी का संकेत देने के लिए उनका भीमसेन से मिलना जरूरी था। जब हनुमान जी भीमसेन से मिलते हैं तब घटनायें तो अनेक घटती हैं, लेकिन अन्त में वे भीमसेन को दो वर देते हैं – पहला, मैं प्रतीक बनकर अर्जुन के रथ के ऊपर बैठूँगा। अर्जुन तो सबसे समर्थ योद्धा था, और जो सबसे समर्थ योद्धा रहेगा, हनुमानजी उसके रथ पर बैठेंगे। और दूसरा, भीमसेन की गर्जना में, भीमसेन की शक्ति में हनुमानजी की शक्ति का संचार होगा।

इन दो वरदानों की पूर्ति हेतु महाभारत युद्ध के समय हनुमानजी का चिह्न, जिसको भीमसेन ने आशीर्वाद स्वरूप प्राप्त किया था, अर्जुन के रथ पर लगाया गया। ऐसा माना गया कि स्वयं हनुमानजी ही अर्जुन के रथ पर साक्षात् आकर बैठे हैं। तात्पर्य यह कि हनुमानजी के द्वारा उसकी रक्षा हो रही थी। इस बात को पाण्डव पक्ष के सभी लोग जानते थे। भीम ने आकर अर्जुन, कृष्णजी तथा अन्य पाण्डव वीरों को बतलाया था कि मुझे अपने बड़े भाई से मिलने का अवसर मिला है। उनका यह आशीर्वाद मिला है, इसीलिये अर्जुन का एक नाम कपिध्वज भी हुआ – वह जो हनुमानजी के ध्वज के नीचे लड़ता है।

अर्जुन ने कृष्ण को अच्युत कहकर सम्बोधित किया। अच्युत का अर्थ होता है, जो अपने पद से कभी च्युत न हो, गिरे नहीं, हिले नहीं। यह संज्ञा तो मात्र भगवान् को दी जा सकती है, क्योंकि इस चलायमान संसार में वही एक स्थायी सत्ता है, स्थिर सत्ता है। कृष्ण भगवान्, जो उस सत्ता का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, ईश्वरीय सत्ता का प्रतीक थे, अवतार थे, वे एक आदर्श के लिये, न्याय, धर्म और सत्य के लिये संघर्ष में साथ थे। वे अपने जीवन में कभी इससे हिले भी नहीं थे। सब जानते थे कि श्रीकृष्ण भगवान् एक आदर्श के लिये जीते हैं। अभी अगर आप भी उन्हें कुछ क्षणों के लिये एक अवतार के रूप में नहीं, एक मनुष्य के रूप में देखें, तो यही पायेंगे कि उनका पूरा जीवन आदर्शों से ही भरा हुआ था। जिसे वे सत्य मानते थे, धर्म मानते थे, न्याय मानते थे, उसके लिये उन्होंने जीवनभर संघर्ष किया और कभी लक्ष्यच्युत नहीं हुए, बल्कि लक्ष्यच्युत लोगों को वे राह में लगाते हैं, इसलिये उन्हें अच्युत नाम से सम्बोधित किया गया है।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥23॥

अर्थ

दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में हित चाहने वाले जो-जो राजा लोग इस सेना में आये हैं, इन युद्ध करने वालों को मैं देखूँगा।

व्याख्या

'धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धे' – धार्तराष्ट्र यहाँ पर दुर्योधन है, क्योंकि यह शब्द धृतराष्ट्र का अपत्यवाचक है, जिसका अर्थ है धृतराष्ट्र का पुत्र। उसी प्रकार पाण्डु पिता का नाम हुआ, पुत्रों का नाम हो गया पाण्डव। कुरु नाम हुआ एक वंश का। उस वंश में जितने लोग आये, उनका नाम हो गया कौरव। वैसे देखा जाये तो पाण्डव भी कौरव ही थे, क्योंकि वे कुरु वंश के थे, लेकिन दोनों पक्षों में भेद बतलाने के लिये एक को पाण्डव कहा गया और दूसरे को कौरव। इसलिये भी कि राज्य से तो पाण्डवों को हटा दिया गया था और दुर्योधन तो उनको बचपन से ही मारने के फेरे में था। अत: वंश से भी पाण्डवों का नाम हट जाये, यह सोचकर उनको कभी कुरु वंश के उत्तराधिकारी के रूप में नहीं देखा गया और कभी उन्हें कौरव के नाम से सम्बोधित नहीं किया गया। उन्हें हमेशा पाण्डुपुत्र या पाण्डव के नाम से ही सम्बोधित किया गया।

यह बात भी है कि पूर्व काल में जो ज्येष्ठ भाई होता था, उसी को राजगद्दी पर बैठाते थे। अत: ज्येष्ठ होने के नाते धृतराष्ट्र को बैठना था, लेकिन वे नेत्रहीन थे, इसलिये वे राजद्दी पर नहीं बैठे, उनकी जगह पाण्डु बैठे। इस क्रम में नहीं होने के कारण पाण्डु को भी कभी कौरव कहकर सम्बोधित नहीं किया गया, क्योंकि वंश का जो सम्बोधन है, वह केवल बड़े पुत्र के लिये सुरक्षित रहता था। इसलिये पाण्डु के पुत्रों को पाण्डव के नाम से जाना गया और धृतराष्ट्र, जो पहला पुत्र था, जिससे वंश चलने की संभावना रहती है, उसके पुत्रों को कौरवों के नाम से जाना गया।

इस प्रकार दो अर्थ यहाँ निकलते हैं। एक तो राजनैतिक दृष्टि कि पाण्डवों को उस वंश में सम्मिलित नहीं करना है, क्योंकि अगर करेंगे तो राज्य पर उनका हक हो जाता है, और दूसरा है सामाजिक न्याय कि जिस संतान से वंश चलता है, जो प्रधान संतान होती है, उसको ही वंश का नाम मिलेगा, अन्य भाइयों को नहीं। वे अपने से बड़े के अधीन रहें। पाण्डु तो कभी दुर्योधन के अधीन रहे नहीं, वे तो स्वयं राजा बन गये थे, इसलिये ऐसी घटना घटती है।

यहाँ अर्जुन कृष्ण भगवान् को कहता है कि आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच खड़ा कर दीजिये ताकि मैं देख सकूँ कि कौन-कौन लड़ने के लिये यहाँ पर एकत्र हुए हैं। और *'धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धे'*, अर्थात् दुर्योधन जिसको दुर्बुद्धि है – जो धर्म, सत्य और न्याय के पक्ष में नहीं है, जो मर्यादा के विपरीत चलता है, उसका हित करने की इच्छा रखने वाले जो राजा यहाँ पर युद्ध करने के लिये आये हैं, उन्हें मैं देखना चाहता हूँ। कौन-कौन लड़ने आये हैं, और कौन-कौन दुर्योधन के हितैषी हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण उस समय अर्जुन को कहते हैं, जो कि गीता में नहीं लिखा गया है, उसका हम अनुमान लगा सकते हैं – "यह तुम क्या कर रहे हो? युद्ध तो होना है, और तुम मुझको कहते हो अपने रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दो। अरे! देखकर करोगे क्या? तुमको तो लड़ना है ही, चाहे देखो या नहीं देखो। अब अपनी तैयारी कर लो।" तो अर्जुन कहता है – "नहीं भगवन्! इसके पीछे एक कारण है। दुर्योधन के पक्ष में कौन-कौन आया है, मैं यह इसलिये देखना चाहता हूँ कि सबको मालूम है कि दुर्योधन का पक्ष अधर्म, अन्याय और असत्य का पक्ष है, फिर वे उसका पक्ष क्यों ले रहे हैं। और उस पक्ष में हमसे भी प्रेम करने वाले कुछ लोग हैं, जैसे, भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, उनको देखकर मैं यह जानना चाहता हूँ कि वे सब कुछ जानते हुए भी अधर्म का पक्ष क्यों ले रहे हैं। मैं यह जानना चाहता हूँ, क्योंकि जो हमारे गुरुजन हैं, उनकी तो सबके ऊपर बराबर कृपा रही है।"

गुरु द्रोणाचार्य की कृपा तो पाण्डवों पर हमेशा रही है। और अर्जुन तो उनका प्रिय शिष्य था ही। यहाँ तक कि द्रुपद से युद्ध में भी द्रुपद को बन्दी बनाने में जब सब कौरव हार चुके थे तब उस समय द्रोणाचार्य ने अर्जुन को ही आदेश दिया था कि तुम जाओ और उसे बन्दी बनाकर लाओ।

अर्जुन कहता है, द्रोणाचार्यजी, जो हम लोगों के गुरु हैं, वे अधर्म का पक्ष क्यों ले रहे हैं? मैं एक बार उनको देखना चाहता हूँ। पितामह भीष्म, जिन्होंने हमेशा सभी के प्रति सम-भाव रखा है और हमेशा यही चाहा है कि हम पाण्डव तथा कौरव एक साथ मिलजुल कर रहें, वे आज किस कारणवश दुर्योधन का पक्ष ले रहे हैं। मैं उन्हें देखना चाहता हूँ। इसके साथ-ही-साथ और भी जो योद्धा हैं, वे लोग क्यों अन्याय का पक्ष ले रहे हैं? अगर वे युद्ध में दुर्योधन से सहमत नहीं हैं, या हमसे भी सहमत नहीं हैं, तो कम-से-कम

उन्हें नहीं आना चाहिए। वे लोग अलग बैठ जाते कि हम युद्ध नहीं करेंगे, यह अन्याय का युद्ध है। आखिर कुछ तो कारण होगा, जिससे वे लोग यहाँ पर उपस्थित हो गये हैं। अगर मैं उन लोगों को देखूँगा, तो हो सकता है उनको लज्जा भी आ जाए।

अत: मेरा प्रयोजन केवल वहाँ पर रथ को खड़ा करके इधर-उधर देखने का नहीं है, मैं अपने से श्रेष्ठ लोगों की मानसिकता को भी जानना चाहता हूँ। इसीलिये कृपा करके आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले चलिये।

संजय धृतराष्ट्र को बतलाता है कि जब अर्जुन ने इस प्रकार श्रीकृष्ण भगवान् को कहा, तब कृष्ण भगवान् ने अर्जुन के रथ को दोनों सेनाओं के बीच में लाकर खड़ा कर दिया।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥24॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥25॥
तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥26॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥27॥

अर्थ

संजय बोले – हे धृतराष्ट्र! अर्जुन द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर महाराज श्रीकृष्णचन्द्र ने दोनों सेनाओं के बीच में, विशेष रूप से भीष्म और द्रोणाचार्य के सामने तथा सम्पूर्ण राजाओं के सामने उत्तम रथ को खड़ा कर कहा कि हे पार्थ! युद्ध के लिए जुटे हुए इन कौरवों को देख।

इसके बाद पृथापुत्र अर्जुन ने उन दोनों ही सेनाओं में स्थित ताऊओं, चाचाओं, दादाओं, परदादाओं, गुरुओं, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों तथा ससुरों को और सुहृदों को भी देखा। उन उपस्थित सम्पूर्ण बन्धुओं को देखा।

व्याख्या

संजय ने कहा, 'हे भारत!' यहाँ पर भारत शब्द का प्रयोग संजय धृतराष्ट्र के लिये करता है। भारत शब्द भरत का अपत्यवाचक है, जिसका अर्थ होता है भरतवंशी, और धृतराष्ट्र तो भरतवंश के ही थे।

श्रीकृष्ण भगवान् ने निद्रा को जीतने वाले, इन्द्रियों को जीतने वाले अर्जुन के कहने पर उस उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दिया, जहाँ पर भीष्म, द्रोण तथा अन्य प्रमुख राजा उपस्थित थे। और बोले, हे पार्थ! युद्ध की इच्छा के लिये उपस्थित जो कौरव वीर हैं, उन लोगों को तुम भली-भाँति देख लो, क्योंकि तुमको इन्हीं लोगों से युद्ध करना है। भगवान् तो पहले से जानते थे कि अर्जुन के मन में पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्य के प्रति ज्यादा ही झुकाव है। अर्जुन ने ऐसा कहा भी था कि मैं उनको देखना चाहता हूँ। इसी कारण कृष्ण भगवान् ने पहले रथ को सेना के उस भाग में लाकर खड़ा किया जहाँ पर भीष्म, द्रोण आदि प्रमुख योद्धा उपस्थित थे। फिर अर्जुन को कहते हैं–भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य तथा जो प्रमुख योद्धा हैं, उनको तुम अच्छी तरह से देख लो।

यहाँ पर कृष्ण भगवान भी कूटनीति कर रहे हैं। उन्होंने केवल रथ को लाकर खड़ा नहीं किया कि ठीक है, अर्जुन ने ऐसा कहा, तो हमने रथ को लाकर खड़ा कर दिया, वरन् रथ को खड़ा करने के बाद वे जानबूझकर कहते हैं– *'उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरुनिति'*–अर्जुन! भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य तथा अन्य प्रमुख राजाओं को देखो। तो अर्जुन क्या देखता है? *'तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितृनथपितामहान्'*–अर्जुन ने दोनों सेनाओं में खड़े हुए अपने चाचाओं को, पितामहों को; *'आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्स-खींस्तथा'*–आचार्यों को, (कृपाचार्य भी अर्जुन के गुरु थे, केवल द्रोणाचार्य नहीं। कृपाचार्य राजगुरु थे, इसलिये यहाँ पर आचार्यान् कहकर सम्बोधित किया गया है), गुरुजनों को, मामाओं को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को, मित्रों को देखो।

'श्वसुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि'–श्वसुरों और सुहृदों को भी देखो, जो अर्जुन के प्रति या पाण्डवों के प्रति अच्छी भावना को धारण किये हुए थे। *'तान समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्'*–अर्जुन ने दोनों सेनाओं में अपने सभी बन्धुओं को अपने-अपने स्थान पर स्थित हुए देखा।

परन्तु, इस प्रकार जब कुन्ती पुत्र अर्जुन ने दोनों सेनाओं में अपने सब बन्धुओं को खड़ा हुआ देखा तो उसको विषाद और दुःख उत्पन्न होता है।

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥28॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥29॥
गाण्डीवं स्त्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥30॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥31॥

अर्थ

उनको देखकर कुन्तीपुत्र अर्जुन ने अत्यन्त करुणा से युक्त होकर शोक करते हुए यह वचन कहे–हे कृष्ण! युद्ध क्षेत्र में डटे हुए युद्ध के अभिलाषी इस स्वजन समुदाय को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीर में कम्प एवं रोमाञ्च हो रहा है। हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है। मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, इसलिए मैं खड़ा रहने को भी समर्थ नहीं हूँ। हे केशव! मैं लक्षणों को भी विपरीत देख रहा हूँ तथा युद्ध में स्वजन-समुदाय को मारकर कल्याण भी नहीं देखता।

व्याख्या

स्वजनों को देखकर अर्जुन दया से भर जाता है और उसको विषाद उत्पन्न होता है। जब कोई व्यक्ति अपने सगे-सम्बन्धियों को अपने विरुद्ध खड़ा देखेगा, तब निश्चित रूप से उसके भीतर यह भावना प्रकट होगी। विशेषकर उस समय युद्ध भूमि में जब दोनों पक्षों के लोग एक-दूसरे को मारने-मिटने के लिये एकत्र हुए थे। अत: निश्चित रूप से अर्जुन के मन में यह भावना उत्पन्न हुई होगी कि जो हमारे पूज्य हैं, जिनको आज तक मैं सम्मान और आदर की दृष्टि से देखता था, आज उन्हीं लोगों के ऊपर मुझे बाण चलाना पड़ेगा, उन्हीं लोगों के साथ युद्ध करना पड़ेगा। इस प्रकार की भावना उठना तो स्वाभाविक है। उसी भावना के दु:ख से अर्जुन विषादग्रस्त होता है। इस विषाद का मूल कारण

क्या है? अगर कहीं पर किसी को दु:ख हो, तो दु:ख का कारण क्या माना गया है? अपनापन, आसक्ति और मोह – ये दु:ख के कारण होते हैं। निस्संदेह परिस्थितियाँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं, लेकिन हर परिस्थिति में आपको या तो मोह का एक रूप दिखलायी देगा, आसक्ति का एक रूप दिखलायी देगा या अपनेपन का एक रूप दिखलायी देगा। स्वामी शिवानन्दजी का एक वाक्य हम यहाँ पर उद्धृत कर रहे हैं, जिसमें वे बतलाते हैं कि मोह अपने बारे में क्या कहता है।

स्वामी शिवानन्दजी ने सभी वृत्तियों से अपना-अपना परिचय कहलवाया था। उनके द्वारा लिखी हुई बहुत ही सुन्दर पंक्तियाँ हैं। उन्होंने 'अहंकार' से पूछा कि तुम कौन हो, तो अहंकार कहता है – "स्थूलातिस्थूल और सूक्ष्मातिसूक्ष्म मेरा रूप है। दया और नम्रता चुराकर दिन दूना रात चौगुना बढ़ता हूँ। काम मेरा पुत्र है, दिवास्वप्नों के संसार में मैं समस्त संसार का अधिपति बन जाता हूँ।"

स्वामी शिवानन्दजी ने फिर 'काम' से, जो अहंकार का पुत्र है, पूछा कि तुम अपना परिचय दो। तो काम अपना परिचय देता है – "ज्ञानेन्द्रियों के द्वार से मैं प्रवेश करता हूँ, मन में परिपुष्ट होकर आध्यात्मिक और विवेक शक्ति को चुराता हूँ और तन-मन को झकझोर डालता हूँ।" स्वामी शिवानन्दजी ने 'क्रोध' से पूछा कि तुम अपना परिचय दो, तो क्रोध कहता है – "मैं अहंकार और इच्छा देवी का पुत्र हूँ। विद्युत गति से आक्रमण करता हूँ और विवेक को चुराकर जिह्वा के माध्यम से बाहर निकलता हूँ। अगर जिह्वा से बाहर नहीं निकलूँ तो मैं शरीर में प्रकट होकर शरीर को असंतुलित बना देता हूँ और जीवन मूल्यों को समाप्त कर मर्यादाओं को लेकर भाग जाता हूँ।"

फिर स्वामी शिवानन्दजी ने 'लोभ' से पूछा कि तुम्हारा परिचय क्या है। तो लोभ कहता है – "इन्द्रिय आकर्षण मेरा जनक है, जिजीविषा मेरी जननी है, परिग्रह मेरा मित्र है, अतृप्ति मेरी जीवन संगिनी है। संसार में आकर्षण ही आकर्षण हैं, यह मेरा जीवन दर्शन है। पदार्थ की ओर लौटती चेतना तथा थोड़ा और-और की वृत्ति में ही मुझे आहार प्राप्त होता है, विराग की व्यर्थता के गीत गाना मेरा रुचिकर कर्म है।" अन्त में स्वामी शिवानन्दजी ने 'मोह' से पूछा कि तुम्हारा क्या परिचय है। मोह कहता है – "स्वात्माराम मेरी जननी है, आसक्ति का मीठा सुख है मेरी जीवन-शक्ति। त्याग और उत्सर्ग को चुराकर मैं अपना पेट भरता हूँ, मन की संकीर्णता के रूप में मण्डूक, मेंढक बनकर जीना ही मेरा स्वभाव है।"

देखा जाए तो दु:ख के कारण तो यही सब हैं। अहंकार से भी दु:ख होता है, काम, क्रोध, लोभ और मोह से भी। लेकिन विषाद और दु:ख तभी प्रबल होते हैं जब अपने से जुड़ी हुई किसी चीज से हमें संघर्ष करना पड़ता है, या उसे त्यागना पड़ता है। परिवार से जुड़े रहते हैं, कभी परिवारजनों से संघर्ष करना पड़े, तो मानसिक विषाद होता है, मन व्यथित और चंचल हो जाता है। इच्छा हमसे जुड़ी है, इच्छा से अगर कभी संघर्ष करना पड़े, तो उस समय भी हम अपने आपको असंतुलित पाते हैं। कामना भी अपने भीतर की चीज है। आसक्ति और आकर्षण भी हमारे भीतर की चीजें हैं। कभी इनकी स्थिति में परिवर्तन हो, तो मन चंचल हो जाता है, दु:खी हो जाता है।

मन का चंचल होना दु:खी होने का पहला लक्षण माना गया है और जब उस चंचलता को हम नियन्त्रित नहीं कर पाते, तब वह अनियन्त्रित चंचलता दु:ख का कारण बनती है। उसको कहते हैं सहज दु:ख। जब उस सहज दु:ख में प्रबलता आ जाती है, हम अपने आपको उसमें घिरा हुआ पाते हैं, और उस समय हमारी विवेक बुद्धि, मानसिक एवं वैचारिक स्पष्टता काम नहीं करती, तब वह अतिदु:ख का रूप लेता है। यही अर्जुन को भी हुआ। मन तो उसका शुरू से ही चंचल था युद्ध को लेकर। उसके मन में यह विचार पहले अवश्य आया था कि हमें अपने ही लोगों से लड़ाई करनी होगी, लेकिन जब वह कृष्ण भगवान् को कहकर रथ को बीच में ले जाता है और उस क्षण देखता है कि इतने सारे लोग मर-मिटने के लिए तैयार हैं, तो इस दृश्य को साक्षात् देखकर जो धक्का उसको पहुँचता है, उससे वह अपने को नियन्त्रण में नहीं रख पाता।

आप कभी कानों से सुन लें कि कहीं पर एक भयानक दुर्घटना हुई है, तो मन में वह दृश्य नहीं आता, लेकिन अगर आप दुर्घटना स्थल में जाकर उस दुर्घटना को देखें, तो जो दृश्य मन में प्रवेश करता है, वह ज्यादा प्रबल होता है, हृदय द्रावक हो जाता है। केवल सुनने से हृदय द्रवित नहीं होता। जब एक बार देखते हैं, तब वह चीज हमारे मस्तिष्क में छा जाती है। जब उससे तादात्म्य भाव स्थापित हो जाता है, तब उससे मन एवं भावना को अधिक प्रबल रूप से चोट लगती है। यही अर्जुन को भी हुआ, क्योंकि अर्जुन तो एक बहुत ही सहृदय, दयावान, वीर, करुणा से परिपूर्ण योद्धा था और कृष्ण भगवान् का निकटतम मित्र था। अगर किसी के मरने-मारने की बात उसके मन में आये, तो निश्चित रूप से उसकी सात्त्विक प्रवृत्ति को किसी प्रकार की चोट पहुँचेगी। अर्जुन क्रूर योद्धा नहीं था। भले ही वह राजा था, उसने राजकुल में जन्म लिया था, पर वह

था सात्त्विक योद्धा। तामसिक योद्धा नहीं था कि अकारण किसी को मार रहे हैं, बेमतलब किसी की हत्या कर रहे हैं, नहीं। कुछ लोग तामसिक योद्धा होते हैं, जो आगा-पीछा नहीं देखते, धर्म-अधर्म का ख्याल नहीं करते।

जो धर्म या सत्य के लिये युद्ध करता है, उसके भीतर प्रतिशोध, हिंसा या क्रोध की भावना प्रबल नहीं होती। वह विवेक सहित युद्ध करता है। जब कोई तामसिक भाव को लेकर युद्ध करता है, तब हिंसा, प्रतिशोध और क्रोध की भावना दावानल की तरह मनुष्य के व्यक्तित्व, उसकी विचारशीलता एवं विवेक बुद्धि को समाप्त कर देती है।

अर्जुन उस समय मात्र एक योद्धा था। उसको मालूम था कि मुझे न्याय के लिये लड़ना है और न्याय पाण्डवों के पक्ष में है। लेकिन उसके भीतर दूसरे पक्ष में खड़े अपने स्वजनों, आचार्यों, पितामहों तथा अन्य वीर योद्धाओं के प्रति भी आदर, सम्मान, सत्कार और अपनत्व की भावना थी, और उसी भावना के कारण वह व्यथित, दु:खी तथा निराश हो जाता है। अपनेपन का खिंचाव बहुत प्रबल होता है। मान लीजिए, आप सड़क में कहीं जा रहे हैं, लड़के लोग लड़ रहे हैं। आप उनकी ओर देखते हैं और कहते हैं कि ये लड़के लड़ रहे हैं, कोई बात नहीं। लेकिन अगर उस झुण्ड में आपको अपना लड़का दिख गया, तो क्या हालत होगी? उस समय तो आपके मन में यह विचार नहीं आयेगा कि लड़के लोग लड़ रहे हैं। उस समय, 'मेरा पुत्र वहाँ पर है, मैं जाकर देखूँ, उसे बचाऊँ।' यह विचार आयेगा। अपनत्व की भावना आयेगी कि लड़ाई-झगड़ा बन्द कराऊँ, उसे दूर ले जाऊँ, बचाऊँ। अपनत्व की भावना बहुत प्रबल भावना है। वह अपनत्व की भावना, जो अन्त:करण में, मन में व्याप्त रहती है, मनुष्य के विचारों, भावनाओं एवं कर्मों को अपनी ओर खींचती है। उसी प्रवाह में अर्जुन आ गया था। अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से कहता है–

'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सं समुपस्थितम्'–युद्ध करने की इच्छा से इकट्ठे हुए इन स्वजनों को देख कर; *'सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति'*–मेरे सब अंग शिथिल हो रहे है और मुँह सूखा जा रहा है। *'वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते'*–शरीर में कँपकँपी हो रही है और रोमांच हो रहा है। *'गाण्डीवं स्त्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते'*–गाण्डीव धनुष मेरे हाथों से खिसक रहा है, मेरे हाथों में वह शक्ति नहीं कि मैं उस धनुष को पकड़ सकूँ। *'त्वक्चैव परिदह्यते'*–मेरी त्वचा में जलन हो रही है। *'न च शक्नोम्यवस्थातुं'*–मैं तो खड़ा होने में भी असमर्थ हूँ। मेरे पैर मेरे शरीर को सहारा नहीं दे पा रहे

हैं। पैर भी काँप रहे हैं, उनकी शक्ति जा रही है। मैं खड़ा भी नहीं हो पा रहा हूँ। *'भ्रमतीव च मे मन:'*—मेरा मन भ्रमित हो रहा है। चक्कर-सा खा रहा है, सिर घूम रहा है। *'निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव'*—हे केशव! इसके सिवा मैं और भी जो लक्षण देख रहा हूँ, वे सब मुझे विपरीत ही दिखायी दे रहे हैं। अनुकूल कोई दिखलायी नहीं दे रहा है। *'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्त्वा स्वजनमाहवे'*—युद्ध में अपने स्वजनों को मारकर मैं कोई कल्याण नहीं देख रहा हूँ। अपने ही स्वजनों को जब मैं युद्ध में मार दूँगा, तो क्या कल्याण होगा?

यहाँ पर अर्जुन की दो अवस्थायें हैं। एक अवस्था है विषाद की, जिसको आज के मनोविज्ञान में हम लोग स्नायविक असंतुलन की अवस्था कहते हैं। स्नायविक असंतुलन की अवस्था तब उत्पन्न होती है जब मन और शरीर के सम्बन्ध में किसी प्रकार का अवरोध आ जाये। जब मन शरीर की इन्द्रियों का साथ नहीं देता और जब शरीर की इन्द्रियाँ मन का साथ नहीं देतीं, तब स्नायविक असंतुलन होता है। स्नायविक असंतुलन की शुरुआत मानसिक दु:ख से होती है। संसार में मानसिक सुख ही लोगों के लिये सब कुछ है। लोग जितने कर्म करते हैं, उनका एक ही उद्देश्य रहता है कि मानसिक एवं भावनात्मक रूप से सुखी रहें। जो पुरुषार्थ लोग करते हैं—अर्थ के लिए पुरुषार्थ करते हैं, उसका प्रयोजन है मानसिक सुख। अगर अर्थ के लिए पुरुषार्थ करते हुए अर्थ की प्राप्ति न हो, तो क्या होगा? मानसिक दु:ख होगा। धर्म का पुरुषार्थ करते हैं, तो उससे भी मानसिक सुख मिलता है। सन्तोष की भावना जन्म लेती है। काम का पुरुषार्थ करते हैं, किसी इच्छा को पूरा करते हैं, किसी कामना को पूरा करते हैं, किसी वासना को पूरा करते हैं, तो उससे भी मानसिक सुख ही अपेक्षित रहता है। मोक्ष का पुरुषार्थ करते हैं, उससे भी मानसिक सुख की आशा रहती है।

अत: मानसिक सुख को ही हम लोग अपने जीवन का आधार मानते हैं। यह मानकर चलते हैं कि जब तक आंतरिक मानसिक सुख है, जिन्दगी में हमें सब कुछ प्राप्त है और मानसिक सुख के अलावा हमें और किसी चीज की आवश्यकता नहीं। जब लोग कहते हैं कि हम दु:खी हैं, उसका यही मतलब होता है कि उनके मन में कहीं-न-कहीं सुख का अभाव है। जिस समय वह सुख मन को प्राप्त हो जाए, दु:ख नहीं रहता। शरीर में फोड़ा हो गया, तो मन में चिन्ता हो गयी। चिन्ता हो जाने से मन का सुख समाप्त। वह फोड़ा दु:ख का रूप लेता है। किसी को दमा हो जाए, मधुमेह की बीमारी हो जाए,

तो उसका प्रभाव मन पर पड़ेगा। मानसिक सुख समाप्त हो जाएगा। इसलिये मनोविज्ञान में बतलाया जाता है कि मन और शरीर का बहुत ही गहरा सम्बन्ध है। शारीरिक स्थिति मन को प्रभावित करती है। मन से शरीर का जो सम्बन्ध है, वह है मनोकायिक सम्बन्ध। शरीर की वह अवस्था जो मन को विचलित कर दे, बीमार कर दे, दु:खी कर दे, उसको कहते हैं काय-मानसिक व्याधि, जो शरीर से शुरू होकर मन को प्रभावित करती है।

मन में चंचलता या विक्षिप्तता या दु:ख या विषाद के कारण शरीर में जो स्थिति उत्पन्न होती है, वह व्याधि का रूप लेती है, उसको कहते हैं मनोकायिक व्याधि। यह तो सामान्य तर्क की बात है कि मन और शरीर, दोनों में बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन व्याकुल हो जाये तो शरीर पर उसका प्रभाव पड़ेगा। शरीर की शक्ति क्षीण हो जायेगी, शरीर में कम्पन होगा, ठण्ढी-गरमी का अनुभव होगा, दृष्टि के सामने धुँधलापन छा जायेगा, लगेगा जैसे सिर चक्कर खा रहा है। ये सब मनोकायिक लक्षण अर्जुन में दिखलायी दे रहे हैं। ये लक्षण उसके विषाद के लक्षण हैं।

विषाद दो-तीन कारणों से होता है। पहला कारण है भय। आदमी जब डर जाता है, तब भी विषाद होता है। एक छोटा-सा उदाहरण – मान लीजिए आप कहीं जा रहे हैं, रात का समय है, अंधेरा है। साँप सामने आ जाये। एक क्षण में क्या होता है? शरीर में लगता है जैसे झुनझुनी फैल गयी, दृष्टि शून्य हो जाती है, शरीर एकदम जड़वत् हो जाता है। क्या करूँ, क्या नहीं करूँ का ज्ञान नहीं होता। अत: भय के कारण विषाद की एक स्थिति आ गयी, जिसने शरीर को प्रभावित किया।

दूसरा कारण है असुरक्षा की भावना। यहाँ पर आप बैठे हैं। मालूम पड़ा कि घर में चोरी हो गयी। आपकी सम्पत्ति लुट गयी है। उस समय भी आप आवाक् रह जाते हैं, कुछ समय के लिए शरीर सुन्न हो जाता है। वह असुरक्षा की भावना है। वहाँ पर भय नहीं है, वहाँ पर यह भावना है कि अब मेरा क्या होगा। मैंने इतने परिश्रम से जो कमाया था, जमा किया था, वह सब लुट गया है। अब क्या होगा – यह असुरक्षा की भावना है।

मान-अपमान की भावना से भी विषाद की संभावना रहती है। अगर आपको मालूम पड़ जाये कि आपके पिताजी, जिनका आप सम्मान करते हैं, जिन्हें आप पूज्य मानते हैं, वे आपके बारे में दूसरों से भला-बुरा कह रहे हैं, तो आपको लगेगा कि मेरे मान को चोट लग रही है और उस समय भी

हताशा की एक अवस्था आयेगी। आप अपने आपको हताश अनुभव करेंगे। चोट का, सदमे का अनुभव करेंगे। मैं जिसका सम्मान करता था, मैं जिसको आदर देता था, मैंने जिसके बारे में आज तक बुरा नहीं सोचा, वही मेरे बारे में उलटा-सीधा बोल रहा है, मेरी चुगली और निन्दा कर रहा है। उस समय हताशा की जो स्थिति रहती है, वह विषाद की स्थिति है। मान-सम्मान में भी अगर किसी प्रकार की बाधा आ जाये, तो उस समय विषाद की स्थिति आती है। और अपनत्व की भावना में तो विषाद की स्थिति आती ही है। पता चला कि बेटे की दुर्घटना हो गयी, वह अस्पताल में पड़ा है, तुरन्त शरीर सुन्न हो जाता है। क्या हुआ, कैसे हुआ, क्यों हुआ, क्या होगा और उस समय भी हम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं।

अर्जुन को न भय के कारण, न मान-सम्मान के कारण, न और किसी कारण विषाद हुआ, उसको तो केवल इसलिए विषाद हुआ कि उसके भीतर अपनत्व की जो भावना प्रबल थी, उस भावना को चोट लग रही थी। वह भगवान् से कहता है, उनको मार कर मैं करूँगा क्या? तो भगवान् उसको क्षत्रिय धर्म के बारे में समझाते हैं। कहते हैं – "क्षत्रिय का एक ही धर्म है कि वह संग्राम में युद्ध करे। जिस लक्ष्य को लेकर वह रण भूमि में आया है, उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये युद्ध करे। जब इस प्रकार वह अपने धर्म का आचरण करता है और जीतता है, तब जीत का यश उसको मिलता है और अगर वह मरता है तो वीर गति को प्राप्त होता है।"

वीर गति प्राप्ति को शास्त्रों में 'ब्रह्म लोक की प्राप्ति' कहा गया है। जो धर्म युद्ध होते हैं, उनमें लोग इसी भाव के साथ जाते हैं कि हम वीर गति प्राप्त करें, अर्थात् ऊँचे पद को प्राप्त करें। चाहे कोई हिन्दू हो या मुसलमान हो या और किसी जाति, धर्म या सम्प्रदाय का हो, क्योंकि उनके मन में यह धारणा है कि अगर हम एक सत्य को लेकर लड़ें तो हम वीर गति को प्राप्त करेंगे और उस वीर गति में भगवान् का आश्रय, भगवान् का साया हमको मिलेगा। धर्म शास्त्रों का भी कहना है कि ब्रह्म लोक को प्राप्त करने वाले दो प्रकार के लोग होते हैं। एक तो होते हैं योगी, जो अपने प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ाकर मस्तिष्क से प्राणों को त्यागते हैं। जब वे प्राणों को मस्तिष्क से त्यागते हैं, तब ब्रह्म लोक को प्राप्त करते हैं, अर्थात् उच्च दैविक अवस्था को प्राप्त करते हैं। दूसरे लोग हैं, क्षत्रिय। जो युद्ध भूमि में वीर गति प्राप्त करते हैं, वे भी ब्रह्म लोक को प्राप्त करते हैं।

यह केवल शास्त्रों की बात नहीं, बल्कि इतिहास में ऐसा वर्णन भी आया है। गुरु गोविन्द सिंह ने भी अपने शिष्यों को कहा था कि अगर युद्ध करते हुए तुम लोग मरोगे, तो तुम उसी लोक को प्राप्त करोगे, जिसमें मैं जाऊँगा। समर्थ रामदास ने भी शिवाजी को कहा था कि युद्ध करो और अगर युद्ध करते हुए मृत्यु को प्राप्त करोगे, तो तुम मृत्यु को नहीं, बल्कि ब्रह्म को पाओगे। अर्थात् यह मान्यता चली आयी है, चाहे वह गीता के काल में रही हो, चाहे वैदिक काल में, चाहे शिवाजी के काल में या गुरु गोविन्द सिंह के काल में। आज भी ऐसी मान्यतायें हैं कि व्यक्ति अगर युद्ध में मरे, या योगी होकर मरे, तो ब्रह्म लोक को प्राप्त करेगा और इससे भला ही होगा।

कृष्ण भगवान् जब अर्जुन को कहते हैं कि भले ही तुम्हारे शरीर में रोमांच हो रहा है, तुम्हारी त्वचा जल रही है, कोई बात नहीं, तुम अपने क्षात्र धर्म का पालन करो, तब अर्जुन कहता है कि यह बात मेरी समझ में बिलकुल नहीं आ रही है कि अगर मैं अपने कुटुम्बियों को मार दूँ तो मेरा भला किस प्रकार होगा। भला तो होने का है नहीं, तो भगवान् कहते हैं कि अगर तू इन्हें नहीं मारेगा, तो तेरी विजय कैसे होगी। न्याय की जीत कैसे होगी, और जब विजय नहीं मिलेगी, तो तुम राज्य कैसे प्राप्त करोगे। राज्य भी तो नहीं मिलेगा। फिर अपना भटकते रहो वन-वन, और जब राज्य नहीं मिलेगा, तो तुमको सुख कैसे मिलेगा। युद्ध करो। युद्ध में विजय प्राप्त करो, विजय से राज्य प्राप्त करो और राज्य से सुख प्राप्त करो।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥32॥

अर्थ

हे कृष्ण! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखों को ही। हे गोविन्द! हमें ऐसे राज्य से क्या प्रयोजन है अथवा ऐसे भोगों से और जीवन से भी क्या लाभ है?

व्याख्या

जब अर्जुन ऐसा कहता है तब कृष्णजी सोचते हैं कि इसको थोड़ा ज्यादा सदमा लगा है, क्योंकि संसार में कौन-सा आदमी है जो राज्य की, सुख की और

विजय की कामना नहीं करेगा। दो आदमी अखाड़े में उतरते हैं कुश्ती के लिये, तो दोनों हनुमानजी से प्रार्थना करते हैं कि हे हनुमान! हमें विजयी बनाओ। विजय की कामना तो सभी करते हैं। एक भी तो यह नहीं कहता है कि मैं जीतूँ या नहीं जीतूँ, कोई फर्क नहीं पड़ता। क्रिकेट के मैदान में जब खिलाड़ी उतरते हैं, तब उस समय हर खिलाड़ी के भीतर, हर टीम के भीतर क्या भावना रहती है? क्या कोई सोचता है कि यह तो खेल ही है, हारेंगे तो हारेंगे। नहीं, हर एक के मन में भावना रहती है कि हमारी टीम जीते। फुटबॉल के मैदान में भी यही होता है। जब परीक्षा का समय आता है, विद्यार्थी स्पर्धा में जाते हैं, उस समय भी सफलता प्राप्त करने की भावना रहती है। जीत की भावना तो हर किसी के मन में हर समय रहती है। अब कृष्णजी ही असमंजस में पड़ गये कि ऐसी क्या बात हो गयी कि इसके दिमाग को थोड़ी ज्यादा चोट पहुँची है, क्यों यह विजय नहीं चाहता, राज्य नहीं चाहता है, सुख नहीं चाहता। वे अर्जुन से पूछते हैं कि आखिर तुम इतने उदास और दु:खी क्यों हो गये हो, क्यों कहते हो कि हमको विजय नहीं चाहिये, राज्य नहीं चाहिये, सुख नहीं चाहिये, तो अर्जुन उनको अगले श्लोकों में कहता है।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥33॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥34॥

अर्थ

हमें जिनके लिए राज्य, भोग और सुखादि अभीष्ट हैं, वे ही यहाँ सब धन और जीवन की आशा को त्यागकर युद्ध में खड़े हैं। गुरुजन, ताऊ, चाचे, लड़के और उसी प्रकार दादा, मामा, ससुर, पौत्र, साले तथा और भी सम्बन्धी लोग हैं।

व्याख्या

अर्जुन कहता है, जिनके लिये हमने राज्य, भोग और सुख की कामना की थी, यही लोग अगर नहीं रहेंगे, तो हम किसलिये विजय, राज्य और सुख की इच्छा रखें? पता नहीं कौन मरेगा, कौन बचेगा, कौन हारेगा, कौन जीतेगा। तो

वैसे राज्य को लेकर हम क्या करेंगे जहाँ हमारा कोई भी न रहे। जिनके हित के लिये, जिनके सुख के लिये हमने यह कामना की थी कि हमारा राज्य हो, उसमें हमारे सब मित्र, गुरुजन, भाई, पुत्र, पौत्र, चाचा, मामा, ससुर आदि सुख से रहें तथा सभी का सान्निध्य हम पाण्डवों को प्राप्त होता रहे। जब वे ही नहीं रहेंगे, तो इस राज्य को लेकर हम करेंगे क्या? मैं युद्ध से नहीं घबरा रहा हूँ, क्योंकि मुझे मालूम है कि क्षत्रिय धर्म क्या है। मुझे चिन्ता केवल इस बात की है कि राज्य को प्रजा से रिक्त करना, सम्बन्धियों और कुटुम्बों से रिक्त करना कहाँ तक उचित है। खाली राज्य पर शासन करने में मुझे कोई औचित्य दिखलायी नहीं दे रहा है। वह फिर दूसरे शब्दों में भगवान् श्रीकृष्ण से कहता है –

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥35॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥36॥

अर्थ

हे मधुसूदन! चाहे ये लोग मुझे मार भी डालें, किन्तु मैं तो त्रिलोक के राज्य के लिये भी इन्हें मारने की इच्छा नहीं रखता, फिर किस तरह से पृथ्वी के राज्य के लिये मैं इन्हें मारूँ?

हे जनार्दन! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियों को भी मारकर तो हमें पाप ही लगेगा।

व्याख्या

अर्जुन कहता है, क्या करना है मुझे राज्य से? पृथ्वी का एक टुकड़ा, राज्य कौन-सी बड़ी चीज है, जबकि इनको मारकर मैं त्रिलोक का – स्वर्ग, नरक और पृथ्वी का राज्य भी नहीं चाहता। पृथ्वी का यह छोटा-सा भूखण्ड तो त्रिलोक के समक्ष कुछ महत्त्व नहीं रखता, और यदि ये लोग मुझे मार भी डालें, तो भी मैं इन्हें मारने की इच्छा नहीं रखता हूँ। जब इच्छा ही नहीं है, तो प्रत्यक्ष रूप से इन्हें मारना तो बहुत दूर की बात होगी। अतः हे जनार्दन! धृतराष्ट्र के इन पुत्रों को मारकर हमें कौन-सी प्रसन्नता प्राप्त होगी? इन आततायियों को मारने से भी पाप ही लगेगा।

यहाँ पहली बार अर्जुन ने कौरव पक्ष के लोगों को आततायियों के रूप में सम्बोधित किया है। अभी तक तो वह अपने पक्ष के साथ-साथ कौरव पक्ष के लोगों को भी अपने स्वजन, मित्र, हितैषी या कुटुम्ब के रूप में देखता रहा, लेकिन यहाँ पर उसकी निराशा इतनी बढ़ गयी है कि अन्त में वह उन्हें आततायी कहता है, पर उन्हें मारना नहीं चाहता है। किस कारण से आततायी कहता है? इसलिये नहीं कि वे दुश्मन हैं, बल्कि इसलिए कि उन्होंने आततायियों जैसा कार्य किया है। आततायी का अर्थ होता है जो अपने कृत्यों से किसी के भीतर भय उत्पन्न करे, किसी के प्राण लेने का प्रयत्न करे। अर्जुन भी धर्म का ज्ञाता था।

धर्म शास्त्रों में छ: प्रकार के आततायियों का वर्णन आता है। धर्म शास्त्र में लिखा है कि पहले नम्बर का आततायी है आग लगाने वाला। कौरव यह काम कर चुके थे। जब लाक्षागृह में पाण्डवों को भेजा गया था, तब दुर्योधन ने अपनी चाल से लाक्षागृह में आग लगवायी थी, जिससे पाण्डव किसी प्रकार बच निकले थे। अत: उसी क्षण से ही दुर्योधन एक आततायी बन गया।

दूसरे नम्बर के आततायी हैं, जहर खिलाने वाले। यह काम भी दुर्योधन ने किया था। भीम की शक्ति से जब वह भयभीत होने लगा, तब बचपन में उसने भीमसेन को जहर खिलाकर, बाँधकर नदी में फेंक दिया था। किन्तु भीमसेन किसी प्रकार बच निकले।

आततायी का तीसरा कर्म हुआ हथियार लेकर मारने आना। यह घटना महाभारत काल के समय घट रही थी। हथियार लेकर कौरव पक्ष के सभी लोग मारने के लिये खड़े थे। दुर्योधन तथा उसके निन्यानवे भाई और सौ भाइयों के पुत्र। पूरा कुटुम्ब ही जब वहाँ पाण्डवों को मारने के लिये अस्त्र लेकर खड़ा था तो वह भी तो एक प्रकार से आततायी का ही कर्म हुआ।

चौथा होता है धन का हरण या डाका। यह कर्म भी कौरवों ने किया था। पाण्डवों की सम्पत्ति दुर्योधन ने छल से छीन ली थी, क्योंकि पाण्डवों ने तो लाक्षागृह में जलने से बचने के बाद न्यायालय में कोई दावा नहीं किया, वे सीधा वनवास में चले गये। इस प्रकार उस समय पाण्डवों की सम्पत्ति दुर्योधन के हाथ आ गयी।

पाँचवें क्रम पर है जमीन छीनने वाला। दूसरी बार जब इन्द्रप्रस्थ का निर्माण पाण्डवों ने किया, जो पाण्डवों के पुरुषार्थ, बल, सामर्थ्य और श्रीकृष्ण भगवान् के सहयोग से अत्यन्त वैभवशाली और सम्पन्नशाली राज्य के रूप

में स्थापित हो गया, तब दुर्योधन ने छल से, द्यूत क्रीड़ा से इन्द्रप्रस्थ को भी हथिया लिया और उनको तेरह वर्षों का वनवास दिला दिया। उनके धन को हड़प लिया। जब दुर्योधन ने पाण्डवों से जमीन और राज्य, यह सब ले लिया तब वह भी उस श्रेणी में आ गया। उसने सम्पत्ति ही नहीं छीनी थी, बल्कि इन्द्रप्रस्थ का पूरा साम्राज्य ही उनसे छीन लिया था। इन्द्रप्रस्थ में जितने नगर, गाँव, जनपथ थे और अन्य राज्य जो इन्द्रप्रस्थ के अधीन थे, जिन्हें अर्जुन ने अपने अश्वमेघ यज्ञ के समय जीता था, और उनकी जो भूमि थी, वह सब दुर्योधन के हाथ आ गयी।

छठा है स्त्री का अपहरण। अपहरण भी उसने किया था द्रोपदी का। अपहरण का मतलब यह नहीं हुआ कि उसको ले जाकर कहीं छुपा दिया। उसने भरी सभा में द्रोपदी को घसीट कर मँगवाया और अपनी जाँघों पर बैठाने का संकेत किया। यह एक प्रकार से खुलेआम अपहरण ही था। मतलब इस प्रकार से दुर्योधन तथा उसका सहयोग करने वाले लोग स्वाभाविक रूप से आततायी की श्रेणी में आ जाते हैं।

अर्जुन कहता है कि अगर हम इन लोगों को मारते हैं, तो हमें पाप लगेगा। जब अर्जुन कहता है कि हमें पाप लगेगा, तब कृष्ण भगवान् उसको समझाते हैं कि तुम यह कैसे कह रहे हो कि तुमको पाप लगेगा। समाज में अगर कोई आदमी इस प्रकार का अपराध करता है और उसको हम करुणावश दण्ड नहीं दें, तो क्या वह समाज के हित में होगा? एक गला काटने वाला आदमी जज के सामने खड़ा है, जिन्दगीभर उसने लोगों का गला काटा है, पकड़ाया है और जज को कहता है कि आज से हम गला नहीं काटेंगे। तो क्या जज उसे करुणा कर छोड़ देगा?

हर एक परिस्थिति के लिये एक नीति और एक न्याय है, और व्यक्ति को चाहिए कि वह उस नीति और न्याय के अनुसार चले। यह व्यवस्था हर परिस्थिति, हर परिवेश में हर व्यक्ति पर लागू होती है। यही बात भगवान् कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि तुम कैसे कह सकते हो कि इन्हें मारने से तुमको पाप लगेगा। यह न तो नीति संगत बात है, न न्याय संगत। विशेष रूप से जो राजा है, उसका तो यह कर्तव्य होता है। जिसको प्रजा का पालक कहा जाता है, जिसको पालन का काम दिया जाता है, उसका यह कर्तव्य बनता है कि वह नीति और न्याय के अनुसार चले। अगर वह नीति और न्याय के अनुसार नहीं चल पा रहा है, तो उस पद पर रहने योग्य भी नहीं है। उसको हट जाना

चाहिए। स्वयं सेवानिवृत्त हो जाना चाहिए या उसे हटा देना चाहिए। लेकिन जब तक वह उस पद पर हो, उस पद की मर्यादा की रक्षा भी तो करनी है। जिसे प्रजापालक कहा जाता है, उसे प्रजा की रक्षा करनी है। जिन्हें धर्मपालक कहा जाता है, उन्हें धर्म की रक्षा करनी है। जिस अवस्था में भी हम हैं, जिस परिस्थिति में भी हम हैं, उस परिस्थिति, उस अवस्था, उस परिवेश की नीति और न्याय के अनुसार हम लोगों को चलना है।

इसलिये भगवान् कहते हैं कि तुम कुछ भी करो, पाप नहीं लगेगा और अगर तुम सोचते हो कि तुम्हारे मन में प्रेम भाव हो रहा है, करुणा की भावना उमड़ रही है, और इनके कारण तुम इन्हें माफी दे सकते हो, तब फिर वह गलत कार्य है, क्योंकि माफी तुम किसलिये दे रहे हो? अपने लिये दे रहे हो, अपने आपको कमजोर बनाकर दे रहे हो। क्या तुम्हारे माफी देने से दूसरे का विचार, व्यवहार या कर्म बदल जायेगा? नहीं। राज्य का संचालन करने के लिये राजनीति, धर्म को संतुलित करने के लिये धर्मनीति, न्याय को व्यवस्थित रखने के लिये दण्डनीति, राष्ट्र के उत्थान के लिये, परिवार, देश, समाज और अपने उत्थान के लिये कूटनीति – ये सब नियम बनाये गये हैं, इसलिये घबराना नहीं। भगवान् कहते हैं कि अगर तुम इन अत्याचारियों को दण्ड नहीं दोगे, इनके व्यवहार और कर्म को परिवर्तित नहीं करोगे, तो निश्चित रूप से पूरे राज्य में, देश में अशान्ति फैलेगी, अराजकता फैलेगी, क्या तुम उस अशान्ति से, अराजकता से न्याय कर पाओगे? एक बार जब अशान्ति और अराजकता व्यापक रूप ले लें, तो फिर न्याय कहाँ रहेगा? कोई न्याय की कामना भी नहीं करेगा।

फिर अर्जुन कहता है, आप कहते तो जरूर हैं, लेकिन मैं अपने विचारों को नहीं बदल पा रहा हूँ, क्योंकि मैं अभी मोहग्रस्त हूँ। आप जो कह रहे हैं, वह मैं पूरी तरह से समझ रहा हूँ, लेकिन फिर भी मन में जो भय, आशंका और अकेलापन है, उसको मैं दूर नहीं कर पा रहा हूँ। यही कारण है कि मैं जब अपने चारों तरफ बन्धु-बान्धवों को देखता हूँ, तो मेरी बुद्धि चकरा जाती है और मेरा मन कुछ काम नहीं करता। अगर आप यह भी कहते हैं कि ठीक है, युद्ध करो और मारो, तो वह भी मैं करने को तैयार हूँ, बशर्ते मेरा विचार बदल जाये। आखिर कौरव भी तो अपने ही हैं और पाण्डव भी, दोनों का कुछ अधिकार होता है, दोनों का कुछ हक होता है। हम लोगों का विचार है शान्ति से अपना राज्य हासिल करें, युद्ध करके नहीं, और कौरवों का विचार है युद्ध

करें, पाण्डवों को राज्य नहीं दें। अगर आप एक बार फिर से प्रयास करके कौरवों का विचार बदल दें, ताकि युद्ध न हो और वे अपने राज्य को नष्ट होने से बचा लें, तो उत्तम होगा।

यहाँ पर अर्जुन भगवान् से कहता है कि युद्ध अब अवश्यम्भावी दिखता है, दोनों पक्षों के लोग आमने-सामने आ गये हैं, फिर भी आप एक प्रयास और कीजिये सन्धि का। एक बार सफेद ध्वजा लेकर फिर से चले जाइये, कौरवों से मिल लीजिये, क्योंकि मैं इन्हें राज्य के मोह से मारना नहीं चाहता हूँ। हाँ, जहाँ तक न्याय और धर्म की बात है, उसके लिये मैं लड़ने को तैयार हूँ, लेकिन अभी इन लोगों में जो मानसिकता फैली है, राष्ट्र का लोभ आ गया है, मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं राज्य के लोभ से कौरवों को मारना नहीं चाहता। राज्य का लोभ उनको है, हमको नहीं। आप पुनः एक बार उन्हें ही समझाइये। उसके आगे फिर अर्जुन कहता है –

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥37॥

अर्थ

अतएव हे माधव! अपने ही बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिए हम योग्य नहीं हैं, क्योंकि अपने ही कुटुम्ब को मारकर हम कैसे सुखी होंगे?

व्याख्या

मैं एक राज्य के लोभ से इन्हें मारना नहीं चाहता। मेरी हिम्मत नहीं होती कि मैं इन पर बाण चलाऊँ, क्योंकि लोभ अभी तक मेरे मन में आया नहीं, मुझको प्रभावित नहीं किया और इसी कारण से अपने कुटुम्बी धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारना हमारे लिये उचित नहीं है। हे माधव! अपने ही आदमियों को मार कर हम कैसे सुखी हो सकते हैं? अपने बान्धवों को, जो धृतराष्ट्र के पुत्र हैं, मारना उचित नहीं है। और मैं समझता हूँ कि अपने लोगों को मारकर हम सुखी नहीं हो सकेंगे।

इसलिये मैं इन्हें कदापि नहीं मार सकता। इन लोगों ने हमारा राज्य ले लिया है, तो लिये रहें, किन्तु मेरी ऐसी हिम्मत नहीं होती कि मैं इन्हें मारूँ। आगे बहुत ही सुन्दर बात अर्जुन कहता है –

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥38॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥39॥

अर्थ

यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुल के नाश से उत्पन्न दोष को और मित्रों से विरोध करने में पाप नहीं देखते, फिर भी हे जनार्दन! कुल के नाश से उत्पन्न दोष को जानने वाले हम लोगों को इस पाप से हटने के लिए क्यों नहीं विचार करना चाहिए?

व्याख्या

कहने का तात्पर्य है कि जब दुष्ट अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता है, तो सज्जन अपनी सज्जनता क्यों छोड़े? दुष्ट अपनी दुष्टता करते रहें और सज्जन अपनी सज्जनता। अगर एक वाक्य में कहा जाये तो अर्जुन कह रहा है कि ये लोग तो राज्य के लालच में अन्धे हो गये हैं। इनको धर्म का ज्ञान नहीं है। अधर्म के रास्ते पर चल रहे हैं, क्योंकि ये लालच से अन्धे हो गये हैं। इनको मालूम नहीं हो रहा है कि कुल का जब क्षय होगा, तब उससे कितना बड़ा दोष समाज में उत्पन्न होगा। युद्ध में हम जिन्हें आज शत्रु के रूप में देख रहे हैं, जो आज शत्रु पक्ष में खड़े हैं, वे लोग भी वास्तव में हमारे मित्र हैं और मित्रों से, अपने शुभचिन्तकों से युद्ध करने पर भी मित्र-द्रोह का पाप लगेगा। कुलक्षय के दोष और मित्र-द्रोह के पाप को ये लोग नहीं समझ पा रहे हैं, लेकिन हम पाण्डव तो इस बात को समझ रहे हैं कि यह कितना बड़ा दोष है और मित्र द्रोह कितना बड़ा पाप है। अत: हम लोगों को उससे बचना चाहिए।

तब भगवान् अर्जुन को कहते हैं कि क्या तुम्हारे कहने का तात्पर्य यही है कि दुष्ट अपनी दुष्टता करते रहें, सज्जन अपनी सज्जनता पर चलते रहें। अर्जुन कहता है कि हाँ, यही मेरा तात्पर्य है। तो भगवान् फिर कहते हैं कि अगर सज्जन अपनी सज्जनता के बल पर दूसरे के व्यवहार को नहीं बदल सके, तो सज्जनता किस प्रकार की। अगर सज्जन अपने आचरण के बल पर दुष्टों के कर्मों को, स्वभाव को नहीं बदल सके, तो वह सज्जन कैसे?

जहाँ तक दुष्टों के व्यवहार या कर्म में परिवर्तन लाने का प्रश्न है, यह अनेक प्रकार से लाया जाता है। समझा-बुझाकर परिवर्तन ला सकते हैं। अगर समझने से भी कोई इन्कार कर दे तो फिर उनको और किसी से मिलवाकर उनमें परिवर्तन लाया जाएगा। अगर ऐसे उपायों को भी वह अस्वीकार कर दे, तो फिर अन्त में तो दण्ड ही है। अगर दण्ड के बावजूद भी वह सज्जनता के मार्ग पर चलना अस्वीकार कर दे, तो फिर ऐसे व्यक्ति को संसार में रखना नहीं चाहिये, क्योंकि संसार का आधार है 'धर्म'। धर्म में दुष्टता का स्थान नहीं है, बल्कि पारस्परिक स्नेह और सद्भाव का स्थान है। पारस्परिक स्नेह और सद्भाव ही धर्म की गरिमा को बढ़ाते हैं। संकीर्णता और दुर्भाव तो धर्म की गरिमा को घटाते हैं।

जब कोई आदमी धर्म-मार्ग पर नहीं चलता, तो उसको समझाना चाहिए। नहीं समझता तो अन्य उपाय करना चाहिए। फिर भी नहीं मानता, तो उसको दण्ड देना चाहिए। दण्ड के फिर अनेक रूप हो सकते हैं, जिसमें अन्तिम होता है मृत्यु दण्ड। दण्डनीति में मृत्यु को भी स्थान दिया गया है, मृत्यु को भी धर्म शास्त्र में दण्ड का ही रूप माना गया है। दण्ड का विधान क्यों किया गया है? जो नीतियाँ संसार को चलाती हैं, उनको व्यवस्थित रखने के लिए। जो नीति का विरोध करता है, जो मान्यताओं का विरोध करता है, जो परिस्थिति, परिवेश, समाज का विरोध करता है, उसे बदलना सज्जनों का काम है।

जहाँ तक कुलक्षय का प्रश्न उठता है, वह बात तो सत्य है कि कुलक्षय से दोष उत्पन्न होगा, क्योंकि एक कुल में एक आदर्श, एक विचारधारा, एक दर्शन रहता है। जब उस कुल का नाश होगा, तो उस आदर्श का भी नाश होगा, उस दर्शन का भी नाश होगा और फिर उन विचारधाराओं का समाज में अभाव हो जाएगा। उस अभाव को पूरा करने के लिए किसी दूसरे को सामने आना पड़ेगा। लेकिन जब दूसरा कोई सामने आता है, तो वह अपने मस्तिष्क और मन के अनुसार एक दूसरी विचारधारा को लागू करता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि वही विचारधारा लागू हो जाए, जो पहले से चली आ रही थी।

जिसको उन्होंने कुलक्षय दोष कहा है, अगर हम उसे दूसरे दृष्टिकोण से, धार्मिक दृष्टिकोण से देखें, तो देखने में आता है कि धर्म के दो रूप होते हैं। एक होता है सनातन रूप और दूसरा होता है कालिक रूप। सनातन रूप होता है, एक मान्यता, एक परम्परा, जो सदा से चली आयी है। और

कालिक रूप होता है–विचारधारा, मान्यता, परम्परा में समयानुसार, परिस्थिति के अनुसार, समाज के अनुसार जो कुछ परिवर्तन हो। अगर आप भारतीय दर्शनों को भी देखियेगा, तो यही दिखलायी देगा। सनातन मान्यता को कालिक मान्यता में अनेक बार परिवर्तित किया गया है। भारतीय दर्शन में अट्ठारह स्मृतियों की चर्चा होती है, मनु स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, कौशिक स्मृति, इत्यादि। आखिर ये स्मृतियाँ क्या हैं? हमारे मनीषियों ने उस समय के तात्कालिक सामाजिक परिवेश को दिशा प्रदान करने के लिए सनातन विचारधारा में थोड़ा-सा परिवर्तन किया और उसको स्मृति के रूप में प्रस्तुत किया। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में स्मृति का सामान्य अर्थ होता है याददाश्त। लेकिन स्मृति का वास्तविक अर्थ होता है, जो चीज हमारे मन में है, जिस चीज को हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं, जिस चीज पर हम स्पष्ट रूप से विचार कर सकते हैं। विचार करने का तरीका हर युग में, हर परिस्थिति में बदलता रहता है। महर्षि मनु ने अपने समय में अपने विचारों को व्यक्त किया मनुस्मृति के रूप में। महर्षि याज्ञवल्क्य ने उसी सनातन विचारधारा को अपने रूप में प्रस्तुत किया याज्ञवल्क्य स्मृति के रूप में। इतना ही नहीं, अनेक स्मृतियों के अलावा और भी साहित्य हैं, जिनको हम गृह सूत्र कहते हैं, धर्म सूत्र कहते हैं, श्रोत्र सूत्र कहते हैं। घर, परिवार, समाज और राष्ट्र को कैसे चलाया जाए, ये सब गृह सूत्र में बताया गया है। धर्म का पालन किस प्रकार से हो, यह धर्म सूत्र में समझाया गया है। इनमें कोई समानता रहे, यह आवश्यक नहीं। जैसा कि मैंने पहले भी आपको कहा कि परिस्थिति, परिवेश और मान्यता के अनुसार एक विचारधारा में परिवर्तन ला सकते हैं।

जैसे योग को ही लिया जाए। हम लोग यहाँ पर योग सिखलाते हैं। आज से बीस-तीस साल पहले लोग सोचते थे कि योग तो केवल साधना, अनुष्ठान है, तपस्वियों की चीज है, गृहस्थों के लिए नहीं है। लेकिन हमारे गुरुजी ने कहा कि नहीं, योग सबके लिए है। इससे एक विचारधारा में परिवर्तन आया। जब उन्होंने कहा कि योग सबके लिए है और सबको करना चाहिए, तब फिर धीरे-धीरे सब लोग जुड़ने लगे। बीस-तीस साल पहले तो कोई बीमारी को ठीक करने के लिए योग में नहीं आता था, लेकिन आज सब आते हैं। कैंसर के उपचार के लिये आते हैं, मधुमेह के उपचार के लिए आते हैं, दमा के उपचार के लिए आते हैं। यह कालिक परिवर्तन हुआ योग की परिभाषा में। हो सकता है दस-बीस साल के बाद विचारधारा में फिर एक परिवर्तन आ जाए।

इस परिवर्तन का यह मतलब नहीं कि मूल विचारधारा लुप्त हो गयी। योग की मूल विचारधारा तो लुप्त नहीं हुई, केवल आधुनिक परिवेश में योग की मूल विचारधारा का विस्तार हुआ है और इस विचारधारा का विस्तार होने से, समाज के जिन-जिन क्षेत्रों में योग का अभाव था, अब वह अभाव पूरा हो रहा है। चाहे शिक्षा के क्षेत्र में हो, चिकित्सा के क्षेत्र में हो, व्यवहार परिवर्तन के क्षेत्र में हो या परिस्थितियों से संघर्ष करने के लिये हो – योग वहाँ पहुँच गया। इसका उदाहरण स्पष्ट दिखलायी दे रहा है। चिकित्सा महाविद्यालय में योग सिखलाया जा रहा है। वैज्ञानिक इस पर चिकित्सात्मक शोध कर रहे हैं। जेलों में योग पहुँच गया है, सेना में योग पहुँच गया है। खिलाड़ियों के बीच भी अलग-अलग खेल संघों में योग पहुँच गया है। यहाँ तक कि अन्तरिक्ष यात्रियों की तैयारी में भी अब योग को जोड़ा गया है। अर्थात् इसका महत्त्व तो है, केवल विस्तार करने की आवश्यकता थी, लेकिन इस विस्तार से योग का आध्यात्मिक पक्ष तो लुप्त नहीं हुआ, बल्कि वह और प्रबल हो गया। जैसे-जैसे, जिस कारण से भी लोग योग में आते हैं और योग का अभ्यास करते हैं, वैसे-वैसे उनको स्वयं की जानकारी मिलती है। अपने मन, व्यवहार, आचरण, विचार और कर्म की जानकारी मिलती है, और वे स्वयं को सन्तुलित बना पाते हैं। जैसे-जैसे वे सन्तुलित होते जायेंगे, वैसे-वैसे एक ही आध्यात्मिक जिज्ञासा मनुष्य में जन्म लेगी। इसको कहते हैं कालिक परिवर्तन।

विवेकानन्दजी ने योग का प्रचार किया, लेकिन उन्होंने यह कह कर तो प्रचार नहीं किया था कि योग से बीमारियाँ दूर होंगी। सनातन परम्परा, सनातन विचारधारा, सनातन धर्म का भी यह रूप है कि समय-समय पर इनका विस्तार हो, और इनका विस्तार जब हो तो 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' की भावना से हो। मेरी मुर्गी की एक ही टांग की भावना से नहीं, साम्प्रदायिकता की भावना से नहीं, संकीर्ण भावना से नहीं, बल्कि सार्वभौम हित और सुख की भावना से इसका विस्तार होना चाहिए।

यहीं पर अर्जुन को भय था कि जब कुलक्षय होगा तो कुल से जुड़ी हुई जो मान्यतायें, परम्पराएँ, विचार, आदर्श और धर्म हैं, वे सब समाप्त हो जायेंगे और उससे समाज में शून्यता आ जायेगी। पिछले जमाने में राजकुल तो बहुत ही शक्तिशाली कुल होते थे, और विशेषकर पाण्डव जैसे लोग, जो न्याय और धर्म की मिसाल थे। अगर उनका कुल नष्ट हो जाये तो न्याय और धर्म तो रहेगा नहीं। न्याय और धर्म को ऊपर आने तक फिर सैंकड़ों-हजारों साल लग सकते

हैं। किसी ऐसे शक्तिशाली मनुष्य की आवश्यकता होगी, जो पुन: उसको स्थापित कर सके। एक अवतार की आवश्यकता हो सकती है, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने भी स्पष्ट रूप से कहा है – "जब जब धर्म की हानि होती है, मैं धर्म को पुन: स्थापित करने के लिये अवतार लेता हूँ।" तो अर्जुन का संकेत था कि इस कारण कुलक्षय से दोष आयेगा और उस दोष से समाज प्रभावित होगा।

जहाँ तक मित्र द्रोह की बात है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उससे भी एक सामाजिक मर्यादा भंग होती है। एक-दूसरे पर विश्वास नहीं होगा, तो जितने मानवीय मूल्य हैं, सब नष्ट हो जायेंगे। न किसी पर आस्था रहेगी, न किसी पर विश्वास। हम संसार में एक अकेले जीव बन जायेंगे। अकेले जीओ, अकेले लड़ो, अकेले मरो। और जब ऐसा होगा तो फिर हम भगवान् के नियमों का पूर्ण रूप से पालन नहीं कर पायेंगे, क्योंकि भगवान् ने तो हमें यहाँ पर मनुष्य देह इसलिये नहीं दी है कि हम एक-दूसरे का विद्रोह करें। मनुष्य देह दे कर उन्होंने यह भी कहा कि तुम्हारे भीतर स्नेह है, प्रेम है, करुणा है, श्रद्धा है, भक्ति है, मित्रता है, विश्वास है, आस्था है। परन्तु हम यदि आपसी विद्वेष में लगे रहें, तो हमको जितनी शक्ति भगवान् ने दी है, उसका उपयोग भी नहीं कर पायेंगे। अत: मित्रद्रोह का यह दोष होता है – हम अपने आपको जुड़ने से अलग कर लेते हैं। जो आदमी जितना जुड़ता है, उतना विश्वास फैलता है, उतना प्रेम फैलता है, भाव फैलता है।

जहाँ तक लोभ का सवाल है, 'लोभ पाप का मूल है और नरक मूल अभिमान।' हर पाप का मूल तो लोभ ही है। लोभ चाहे संपत्ति का हो या स्त्री का, यश का हो या मान का। लोभ के कारण हम हर प्रकार का काम करते हैं। अगर लोभ न रहे, तो उस प्रकार के कार्य ही नहीं होंगे जिससे हम पाप को अपने जीवन में आश्रय दें। जब लोभ रहता है तब उससे अभिमान की स्थिति उत्पन्न होती है, घमण्ड का, अहंकार का, 'मैं' का भाव जाग्रत होता है। जब इस प्रकार अभिमान में वृद्धि होती है, तब हम नरक में ही जाते हैं। यही बात अर्जुन भगवान् को कहता है कि कौरव लोभ के कारण अन्धे हो गये हैं। अपने कुल का नाश करने के लिये तैयार हैं। हमें पाँच गाँव भी देना उन्हें स्वीकार नहीं है। ये लोग कुवृत्ति हमेशा से करते रहे हैं, लेकिन प्रभु लोभ की उसी पंक्ति में मैं क्यों खड़ा हो जाऊँ? इस पर भगवान् अर्जुन को कहते हैं कि तेरी बुद्धि पर लोभ का पर्दा क्यों नहीं पड़ा। अर्जुन कहता है कि मेरी बुद्धि में लोभ का पर्दा नहीं पड़ सकता, क्योंकि शुरू से आपका सान्निध्य रहा है।

कौरवों ने कभी श्रीकृष्णजी को उतने आदर और सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा था और न उनकी बात मानते थे, न धर्म के रास्ते पर चलते थे, इसलिये लोभ का पर्दा उनके मस्तिष्क पर पड़ा है, जिसके कारण वे सत्य को नहीं जान पा रहे हैं; यथार्थ को नहीं देख पा रहे हैं, धर्म को नहीं देख पा रहे हैं। लोभ को सब पापों का मूल माना गया है। लोभ से पाप होते हैं और पाप से मनुष्य को अन्त में दु:ख होता है।

एक पण्डितजी बहुत अच्छे विद्वान् थे। उनका मुख्य प्रिय विषय था लोभ। लोभ पर वे हमेशा प्रवचन दिया करते थे। उनका आश्रम एक नदी के किनारे था। सैंकड़ों की संख्या में लोग वहाँ आकर पण्डितजी का प्रवचन सुना करते थे। लोभ बुरी चीज है। लोभ पाप का मूल है, नरकमूल अभिमान, आदि। उस नदी में एक मगरमच्छ रहता था। वह मगरमच्छ भी पण्डितजी की कथा रोज सुनता था। उसने एक बार सोचा कि देखें पण्डितजी कितने पानी में हैं। उसने एक दिन रात को उनके आश्रम के दरवाजे तक कुछ मणियाँ बिखेर दीं। मगरमच्छ या घड़ियाल तो काफी धनी होते हैं। कभी नाव उलट गयी, तो कभी किसी आदमी को खा लिया। उस मगरमच्छ ने देखा कि किसी की पोटली नीचे पड़ी है। उस पोटली में धन है, तो उस धन को ले गया और पण्डितजी के दरवाजे तक बिखेर दिया।

दूसरे दिन जब पण्डित जी उठे, तो देखते हैं कि उनके दरवाजे के सामने धन पड़ा हुआ है। अब वे धन बटोरने लगे। मगरमच्छ नदी से देख रहा था कि पण्डितजी धीरे-धीरे धन उठाते हुए नदी किनारे पहुँच रहे हैं। जब पण्डितजी ने आखिरी मणि उठायी, तो मगरमच्छ अपना सिर निकाल कर पूछता है – “पण्डितजी क्या कर रहे हैं?” पण्डितजी ने कहा – “यहाँ धन पड़ा हुआ था, उसी को समेट रहा हूँ।” तो मगरमच्छ ने कहा – “बस, इतनी-सी बात। चलिये मैं आपको एक ऐसी जगह ले चलता हूँ जहाँ आपको खूब सारी मणियाँ, मुक्ता का हार मिलेगा।”

पण्डितजी के मन में तो लोभ आ गया था। जिस विषय के विरोध में वे प्रवचन दिया करते थे, वही विषय अब उनके सिर पर सवार हो गया। उन्होंने कहा, ठीक है, लेकिन जायेंगे कैसे? मगरमच्छ ने कहा कि आप मेरी पीठ पर बैठ जाइये। मैं आपको ले चलता हूँ। पण्डितजी बहुत खुशी से तैयार हो गये। पीठ पर पद्मासन लगाकर बैठ गये कि धोती गीली न हो। मगरमच्छ को कहा कि चलो। अब बीच रास्ते में मगरमच्छ को खुजली होने लगी।

आपको तो मालूम है जब मगरमच्छ को खुजली होने लगती है, तो उसका क्या परिणाम होता है। उसने पण्डितजी से पूछा–"पण्डितजी आप रोज प्रवचन दिया करते हैं। मैं रोज आपका प्रवचन सुनता हूँ कि लोभ पाप का मूल है, नरकमूल अभिमान। आज आपको क्या हो गया?" तो पण्डितजी ने कहा–"नहीं, मुझको तो लोभ नहीं है। मैं तो केवल अपने भक्तों के लिये बटोर रहा हूँ।"

पण्डित लोग तो विद्वान् होते ही हैं, किसी की बातों में फँसने वाले लोग नहीं हैं। लेकिन वह घड़ियाल उनसे भी चतुर निकला। उसने कहा– "दूसरे लोगों के लिये लेकर क्या करेंगे। अरे, आपकी टूटी-फूटी झोपड़ी है, एक अलीशान महल वहाँ खड़ा हो जाये, नौकर-चाकर आपकी सेवा में रहें, गाय-बछड़ा रहे, कुत्ता-बिल्ली रहें। आप एक राजसिक जीवन जी सकते हैं।" पण्डितजी ने कहा कि हाँ भाई, तुम्हारी बात तो ठीक है। फिर हमको कष्ट नहीं होगा कि अपना खाना खुद बनाओ, एक गृहणी को रख लेंगे। धीरे-धीरे जैसे-जैसे उनके ऊपर लोभ का भूत सवार होता गया, वैसे-वैसे उनकी बुद्धि भ्रमित होती गयी और अन्त में परिणाम यही हुआ कि वे घड़ियाल के उदर का भोजन बन गये।

यह तो एक कहानी है, जिसका आशय यह है कि किस रूप में लोभ व्यक्ति की बुद्धि को कब भ्रमित कर देता है, यह किसी को मालूम नहीं पड़ता। लोभ को दूर करने का केवल एक तरीका है– *'शिष्यस्तेऽहं शाधिमां त्वां प्रपन्नम्'*– मैं शिष्य हूँ, आपकी शरण में हूँ, मुझे शिक्षा दीजिये।

लोभ को दूर करने का एक ही तरीका है – विवेक बुद्धि को जाग्रत करने का प्रशिक्षण लेना पड़ता है। विवेक तो हर एक व्यक्ति के भीतर है, लेकिन उसके सही उपयोग का प्रशिक्षण लेना पड़ता है। जिसके पास आकर हम यह शिक्षा ग्रहण करते हैं, जो विवेक बुद्धि का प्रशिक्षण एवं उपदेश दे, जो हमारे भीतर विवेक भावना को जाग्रत करे, वह गुरु होता है। जो व्यक्ति शिक्षा ग्रहण करता है, वह शिष्य होता है, क्योंकि शिष्य का अर्थ ही होता है, जिसने अपना शीश अर्पण कर दिया है। उसका फिर अपना क्या है? एक नौकर का अपना क्या है? मालिक की आज्ञा मानता है। अगर सेवक या नौकर को सुख चाहिए, तो मालिक की आज्ञा का पालन कभी नहीं कर पायेगा।

यह समर्पण की भावना ही शिष्य के भीतर होती है। सम-अर्पण, सब कुछ हमने सम्यक् रूप से अर्पित किया। अपना शीश अर्पित किया और शीश एक

प्रतीक है अपनी बुद्धि, मन, अहंकार, वासना और कामना का। जब हम ये सब चीजें अर्पित कर देते हैं, तब लोभ नष्ट होता है। चाहे गुरु को अर्पित करें, या अपने आराध्य को – दोनों में से किसी को भी अर्पित कर सकते हैं।

मनुष्य जीवन का यही धर्म और कर्त्तव्य भी बनता है, क्योंकि आखिर व्यक्ति कहाँ तक अपनी समस्याओं को पालता जायेगा। हमेशा चिन्ता बनी रहती है। अच्छा करो तो भी चिन्ता, बुरा करो तो भी चिन्ता। शादी करो तो भी चिन्ता, नहीं करो तो भी चिन्ता। बीबी आये तो भी चिन्ता, नहीं आये तो भी चिन्ता। पति आये तो भी चिन्ता, नहीं आये तो भी चिन्ता। बच्चा आये तो भी चिन्ता, नहीं है तो भी चिन्ता। सम्पत्ति आये तो भी चिन्ता, नहीं आये तो भी चिन्ता। काम मिले तो भी चिन्ता, नहीं मिले तो भी चिन्ता। आखिर चिन्ता को हम लोग कितना पालते रहेंगे? कहीं-न-कहीं तो उसको रोकना ही चाहिए। कहीं-न-कहीं इन सबसे मन का सम्बन्ध विच्छेद होना चाहिए। जब यह सम्बन्ध विच्छेद होता है, तब मनुष्य को आत्मसंतुष्टि प्राप्त होती है, आत्मिक सुख मिलता है, उसके पहले नहीं। उसके पहले तो जो चिन्ता सिर पर सवार है, वह चिता तक ले जाती है। इसलिये इनसे सम्बन्ध विच्छेद होना आवश्यक है। जब यह सम्बन्ध विच्छेद होता है तब ही मनुष्य एक सच्चा मनुष्य बनता है, उसके पहले नहीं। जो सच्चा मनुष्य बनता है, वह संसार की सभी संकीर्ण आशाओं, कामनाओं और बन्धनों से मुक्त रहता है।

यहाँ अर्जुन ने एक बहुत सुन्दर बात कही है कि लोभ का पर्दा तो हमारे मन पर पड़ा ही नहीं, क्योंकि हमारे आश्रय तो आप हैं। जिनको आपका आश्रय नहीं मिला, उनके मन पर लोभ का पर्दा पड़ा है और वे लोभ के बुरे परिणाम को नहीं देख पा रहे हैं। अर्जुन खुद कहता है कि मेरी नजरों में तो इस समय युद्ध के क्षेत्र में लोभ के दो बुरे परिणाम दिखलायी दे रहे हैं। एक तो कुल का क्षय और उससे पाप तथा दूसरा मित्र द्रोह और मित्र द्रोह का पाप। तो इस सबके भागी हम क्यों बनें?

तुलसीदास जी ने भी रामायण में कहा है – *'लोभी लोलुप कीरती चाहि।'* जो लोभी है, व्यसनी है, कामी है, उसे कीर्ति नहीं मिलती। सेवक के मन में अगर लोभ आ जाये, तो सुख की चाह करेगा, सेवा की नहीं। भिखारी के मन में अगर लोभ अवतरित हो जाये, तो वह मान की चाह करेगा। व्यसनी के मन में अगर लोभ आ जाये, तो वह धन की चाह करेगा। कामी के मन में अगर लोभ आ जाये तो वासना को पूर्ण करने की इच्छा रखेगा। इस प्रकार जहाँ भी

लोभ आयेगा, वहाँ एक नकारात्मक अनुभव मनुष्य को अपने जीवन में होगा। यह निश्चित है।

इस पर भगवान् कहते हैं कि अर्जुन तुम धर्म की बात तो कर सकते हो, पर नीति की नहीं। तुमको यह मालूम होना चाहिए कि जहाँ सत्य का व्यवहार होता है, वहाँ तुमको भी सत्यता का व्यवहार करना चाहिए। जहाँ दुष्ट व्यवहार हो, वहाँ तुमको भी दुष्ट जैसा व्यवहार करना चाहिये। अगर पैर में काँटा घुस गया, तो उसको कैसे निकालोगे? दूसरे काँटे से। विष का प्रभाव जो शरीर में फैला है, उसको समाप्त करने के लिये क्या प्रयोग में लाते हो? दूसरे विष को। *'विषयस्य विषमौषधं'*। इस प्रकार की विवेक बुद्धि तुम्हारे पास होनी आवश्यक है, क्योंकि पापियों और आततायियों को तो मालूम नहीं है कि सत्य क्या है और सभ्यता क्या है। इसलिये मैं फिर कहता हूँ कि युद्ध का परिणाम चाहे जो हो, लेकिन तत्काल तुम्हारा धर्म बनता है कि तुम स्वधर्म का पालन करो, युद्ध करो। बाद में युद्ध का जो परिणाम होता है, उससे संघर्ष करने के लिये भी, बदलने के लिये भी अपने आपको तैयार रखो। इस पर अर्जुन कहता है कि नहीं भगवान्, कौरवों के विचार तो दूषित हैं हीं, वे लोग गड्ढे में गिरना चाहते हैं, तो गिरें, हम नहीं गिरेंगे। हम लोग अब भी शान्ति चाहते हैं, युद्ध नहीं करना चाहते, क्योंकि युद्ध के ये सब दोष हैं। इसके आगे अर्जुन पुनः कहता है –

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥40॥

अर्थ

कुल के नाश से सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्म के नाश हो जाने पर सम्पूर्ण कुल में पाप भी बहुत फैल जाता है।

व्याख्या

जब कुलधर्म नष्ट हो जाता है तब अधर्म का उत्थान होता है, अधर्म की जड़ मजबूत हो जाती है। तब उस समय समाज का पतन अवश्यम्भावी है।

धर्म का अर्थ होता है, जिससे मनुष्य का अभ्युदय हो, उत्थान हो, विकास हो। अगर संक्षेप में धर्म की परिभाषा देनी हो तो इसी वाक्य का प्रयोग किया जा

सकता है, क्योंकि धर्म तो बहुत व्यापक शब्द है। कुछ लोग धर्म की परिभाषा देते हैं, *'धारयति इति धर्मः'* – जो अच्छा गुण है, जो सात्त्विकता है, जो इस जीवन को धारण करता है, वह धर्म है। लेकिन गीता के अनुसार धर्म की परिभाषा है, जिसका परिणाम अच्छा हो। जिसकी परिणति अभ्युदय में हो, जिसके अन्त में विकास हो, उन्नति हो, उसे धर्म माना गया है।

संसार में तथा मनुष्य जीवन में अभ्युदय या विकास या उन्नति तो अनेक क्षेत्रों में होती है। एक है मानसिक विकास, जिसको हम योग की भाषा में मन का जागरण या चेतना का विकास कहते हैं। जब मन जाग्रत होता है, या जब चेतना का विकास होता है, तब हमें अनेक ऐसे सूक्ष्म आयामों की जानकारी मिलती है, जिसके द्वारा हम अपने जीवन को और भी अच्छा बना सकते हैं, सबल बना सकते हैं। अपनी प्रतिभाओं का उपयोग कर सकते हैं।

धर्म का दूसरा अर्थ होता है सामाजिक मर्यादा, रीति-रिवाज, विचारधारा की स्थापना। जब हम एक अच्छी परम्परा या एक अच्छी विचारधारा को अपनाकर चलते हैं और उस विचारधारा का पालन हमारा परिवार और समाज करता है, तो उससे लोगों का हित होता है। धर्म का तीसरा प्रयोजन होता है, परलोक में सुख-शान्ति। योग की भाषा में इसका अर्थ हुआ, आत्मा और परमात्मा का मिलन। कम-से-कम उस आत्म तत्त्व से तो हम परिचित हो जायें जो हमारे जीवन का आधार है, उस परमात्मा से अपना सम्बन्ध जोड़ लें, जो हमारे जीवन का उत्स है। इस प्रकार इस संसार में तथा हमारे जीवन में धर्म की अनेक परिभाषायें हो सकती हैं या धर्म के अभ्युदय के अनेक क्षेत्र या केन्द्र हो सकते हैं, लेकिन धर्म एक ही है, जिसके आचरण से मनुष्य का हमेशा कल्याण हो, उत्थान हो, विकास हो, वह धर्म ईश्वरीय धर्म माना गया है, मानव निर्मित धर्म नहीं। ईश्वरीय धर्म को हम लोग अपने यहाँ सनातन धर्म कहते हैं। आदि काल से जो एक परम्परा चली आयी है, जिसमें एक अच्छा विचार, एक अच्छा आदर्श, एक अच्छा दर्शन है, जिसका हम पालन कर सकते हैं, जो पालनीय है और जिससे हम अपने आपको विकसित कर सकते हैं, वह है सनातन धर्म, जिसको ईश्वरीय धर्म भी कहा जाता है।

ईश्वरीय धर्म से मनुष्य के जीवन में कर्म पथ निर्धारित होता है कि व्यक्ति को कर्म किस दिशा में ले जाते हैं, विभिन्न प्राणियों को कर्म किस दिशा में ले जाते हैं। ब्रह्माण्ड का जो एक नियम है, व्यवस्था है, आखिर वह भी तो किसी धर्म के अधीन है। अगर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी देखा जाये, तो

गुरुत्वाकर्षण की शक्ति भी एक धर्म द्वारा निर्धारित है। अपने आप वह यहाँ पर है, ऐसा कोई नहीं कह सकता। संसार में, इस व्यक्त जगत् में हर एक का जीवन, चाहे वह सूर्य में हो, पृथ्वी में हो, अन्य सितारों में हो, अन्य ग्रहों में हो, या मनुष्य में हो, जानवर में हो, कीट-पतंगे में हो, उस ईश्वरीय धर्म का एक प्रतीक है, द्योतक है। हमारा जीवन ईश्वरीय धर्म का एक प्रतीक है, लक्षण है, परिणाम है।

सनातन धर्म में एक बात और कह दें, इसमें परिवर्तन नहीं होता, वृद्धि होती है, विस्तार होता है। मतलब किसी एक सिद्धान्त या किसी एक सूत्र का केवल वहीं पर अन्त नहीं होता, बल्कि उसका विस्तार भी होता है। जैसे, विविध स्मृतियाँ, गृह सूत्र, धर्म सूत्र हैं, इतना ही नहीं, उपनिषद् हैं, वेद हैं, अन्य भारतीय शास्त्र हैं। ये सब अपने-अपने रूप में एक विचारधारा की वृद्धि कर रहे हैं, जो कालिक है। किसी काल से सम्बन्ध रखते हैं, लेकिन कालिक होते हुए भी वह इस सनातन विचारधारा से भिन्न नहीं है, उसी का विस्तार है। अगर हमारे मनीषी चाहते तो प्रत्येक दर्शन एक धर्म का रूप ले सकता था। तन्त्र धर्म का रूप ले सकता था, लेकिन हमारे मनीषियों ने कहा कि इनको धर्म का रूप नहीं लेना है, क्योंकि ये अलग-अलग बात तो कह ही नहीं रहे हैं। ये तो एक ही बात को अपने तरीके से समझा रहे हैं, जो कालिक है, जो एक विशेष प्रकार के लोगों को समझाने के लिये कहा गया था।

दूसरे प्रकार के धर्म होते हैं लौकिक। लौकिक धर्म का मतलब जो लोक में एक परम्परा को बदलकर दूसरी को स्थापित करे। जब किसी एक विचारधारा में निस्तेजता आ जाये और उसका विकास न हो तब कोई ऐसे सिद्ध महापुरुष आते हैं जो कहते हैं कि यह विचारधारा अब निस्तेज हो गयी है, इसमें अब प्रवाह नहीं है, इसे बदलो। बुद्ध ने यही किया। बौद्ध मत का विकास किया, जो बाद में बौद्ध धर्म के नाम से जाना गया। महावीर ने भी यही किया। महावीर ने जैन मत का विकास किया, जो बाद में जैन धर्म के नाम से जाना गया। मोहम्मद साहब ने भी यही किया, जो बाद में इस्लाम धर्म के नाम से जाना गया। ईसामसीह ने भी यही किया, जो बाद में ईसाई धर्म के नाम से जाना गया। ये सब लौकिक धर्म माने जाते हैं।

लौकिक धर्म में अनेक प्रकार के धर्म आते हैं। जातीय धर्म भी आते हैं और कौलिक धर्म भी। कौलिक मतलब कुल में चलने वाली प्रथा, जाति में चलने वाली प्रथा। क्षेत्रीय धर्म भी उसमें आते हैं, किसी विशेष क्षेत्र में चलने

वाली प्रथा। अगर आप भारत में ही विभिन्न समुदाओं की ओर नजर डालेंगे, तो आपको ये विभिन्नतायें दिखलायी देंगी। शादी का रिवाज अलग है, संस्कारों का रिवाज अलग है, मृत्यु का रिवाज अलग है। रिवाजों में भिन्नता है, क्षेत्रों में भिन्नता है, कुलों में भिन्नता है। इस प्रकार लौकिक धर्म में भी अनेक प्रकार की भिन्नतायें दिखलायी देती हैं।

ईश्वरीय धर्म के अनुसार लौकिक धर्म को हम लोग धर्म के नाम से नहीं पुकारते, क्योंकि यह तो परिवर्तनशील है। एक परम्परा या एक लौकिक धर्म कुछ वंशों तक या कुछ सौ सालों तक या कुछ हजार वर्ष तक चलता है, उसके बाद फिर कोई दूसरा आता है और उस प्रभाव को समाप्त करके दूसरे को जन्म देता है। क्या आप सोचते हैं कि जब से यह संसार बना है तब से केवल ईस्लाम, ईसाई, बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव और शाक्त, इतने ही मत हुए हैं? नहीं। सैंकड़ों-हजारों की संख्या में अनेक मतों ने अनेक सभ्यताओं को दिशा निर्देश दिया है। हमारी सभ्यता को यह मत दिशा निर्देश दे रहा है और जब हमारी सभ्यता समाप्त होगी, दूसरी पनपेगी, तो कोई दूसरा नया मत आयेगा। इसलिये लौकिक मत को ईश्वरीय धर्म या सनातन धर्म, धर्म नहीं मानता है। वह इनको लौकिक या कालिक कहता है।

परिवर्तन तो कृष्ण भगवान् ने भी किये थे अपने रीति-रिवाजों में। बचपन में ही उन्होंने एक परिवर्तन किया था। उनके जातीय धर्म में इन्द्र की पूजा का रिवाज था। उन्होंने कहा कि नहीं, गोवर्द्धन पूजा होगी। परिवर्तन तो उन्होंने कर दिया और ऐसा परिवर्तन हुआ कि आज तक हम लोग गोवर्द्धन की परिक्रमा करते हैं। इन्द्र की पूजा पूरे देश में समाप्त हो गयी। अब केवल गोवर्द्धन की पूजा होती है।

विशेष व्यक्ति एक परिस्थिति को बदल देता है, लेकिन जब विशेष व्यक्ति न हो, जो उस परिस्थिति को सही दिशा में ला सके, तो क्या होगा? अधर्म का उत्थान होगा और अर्जुन इसी चीज से घबरा रहा है कि युद्ध में तो सब धर्मज्ञ लोग मारे जायेंगे और सब धर्मज्ञ लोगों के मर जाने से अन्त में अधर्म का ही राज्य होगा। इसीलिये वह कह रहा है कि युद्ध से सनातन कुल-धर्म का नाश तो हो ही जायेगा और जब उस नाश के पश्चात् समस्त कुल में, समाज में, संसार में, अधर्म का राज हो जायेगा, तो हम लोग ऐसी परिस्थिति ही क्यों आने दें?

अर्जुन अपनी बात पर दृढ़ था। सोचता था कि अगर धर्म का नाश हो जायेगा, तो हम सदा पाप के भागी ही बने रहेंगे। इतिहास कहेगा कि इन लोगों

ने राज्य के लोभ में पूरे संसार का धर्म ही नष्ट कर दिया। अधर्म का राज्य हो गया। अपनी बात और आगे बढ़ाते हुए अगले श्लोक में कहता है –

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥41॥
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥42॥

अर्थ

हे कृष्ण! पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के दूषित हो जाने पर वर्णसङ्कर उत्पन्न होता है। वर्णसङ्कर कुलघातियों को और कुल को नरक में ले जाने के लिए ही होता है। लुप्त हुई पिण्ड और जल की क्रिया वाले, अर्थात् श्राद्ध और तर्पण से वञ्चित इनके पितर लोग भी अधोगति को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या

इन श्लोकों में चार विचारधाराएँ हैं। अर्जुन अपनी बात को, विचार को और भी मजबूत करने के लिए भगवान् कृष्ण से कहता है कि अधर्म के फैलने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी। यह पहली विचारधारा है। स्त्रियों के दूषित हो जाने पर उस कुल में वर्ण संकरता आ जायेगी। यह दूसरी विचारधारा है। तीसरी विचारधारा है कि यह वर्ण संकरता कुल और कुल घाती, दोनों को नरक में ले जाने का कारण बनती है और चौथी विचारधारा है पिण्डदान और जल दान की क्रिया के लुप्त हो जाने से पितर लोग अपने-अपने स्थानों से पतित हो जाते हैं। अर्जुन इन्हीं चार परिणामों की संभावना से भयभीत था।

सामान्य रूप से दो प्रकार के भय होते हैं। एक जो 'स्व' से जुड़ा हुआ है, असुरक्षा से जुड़ा हुआ है, और भौतिक है, जैसे – कहीं पर मार-पीट हो रही है, कहीं पर हत्या हो रही है, इन सब चीजों से हम लोगों के भीतर जो असुरक्षा की भावना छा जाती है, उसके कारण भय की उत्पत्ति होती है। भय का दूसरा कारण है परलोक की चिन्ता, क्योंकि कर्मों की गति को तो कोई नहीं जानता। क्या पता हम जो कर रहे हैं, वह उचित है कि नहीं। अगर वह अनुचित है, तो

हमारे कर्म पाप जनित होंगे। अगर उचित है, तो हमारे कर्म पुण्य जनित होंगे। अनुचित होने पर तथा पाप जनित होने पर उसका क्या भोग हमको अलग-अलग अवस्था में भोगना पड़ेगा, यह हम नहीं जानते। इसके कारण हमारे मन में भय की उत्पत्ति होती है।

भारतीय परम्परा में अनेक विचारधाराओं का समावेश समय-समय पर हुआ है। अब जैसे कुछ लोग कहते हैं कि मरने पर जीवात्मा यमराज के दरबार में जाती है, वहाँ पर चित्रगुप्तजी अपना लेखा-जोखा देखते हैं कि इसका पाप-पुण्य कितना है और उसके आधार पर किसी को स्वर्ग भेजते हैं, किसी को नरक। दूसरी विचारधारा है कि अगर मृत्यु के समय मनुष्य ईश्वर का चिन्तन करे, अपने आराध्य का चिन्तन करे, तो वह अपने आराध्य के लोक में जाता है, चाहे कैलाश हो, बैकुण्ठ हो या गोलोक हो। अगर वह वासना जनित चिन्ताओं में बँधा रहता है कि मेरे बाद मेरे परिवार का क्या होगा, मेरे बुजुर्ग माता-पिता तथा पत्नी-बच्चों का क्या होगा, तो फिर उसकी आत्मा को मुक्ति नहीं मिलती है और वह प्रेत योनि में भटकता रहता है।

इस प्रकार आप भारतीय दर्शन को देखियेगा तो ऐसी अनेक विचारधारायें आप लोगों को दिखलायी देंगी। इसका मतलब यह नहीं कि हम लोगों के मन में कभी किसी प्रकार का द्वन्द्व रहा है या मानसिक स्पष्टता नहीं रही है। इसका एक ही मतलब होता है कि अलग-अलग विचारधाराओं का समावेश हम लोगों की सनातन संस्कृति में हुआ। इन विचारधाराओं को स्थान मिला, क्योंकि सनातन संस्कृति के लोग इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं कि स्वर्ग या नरक या अपने इष्ट के लोक में जाना या प्रेत योनि में घूमते रहना मनुष्य के कर्म द्वारा ही निर्धारित होता है। जो मनुष्य जीवन को सकारात्मक रूप से जीने का प्रयत्न करता है, जो जीवन में अच्छाई और गुणों को बढ़ावा देता है, उसके कर्म उत्तम होते हैं।

यह कर्म विधान, जो हम लोगों के दर्शनों में आता है, इसी के कारण लोगों के मन में एक आशंका और भय बना रहता है और बना हुआ है। अर्जुन के मन में भी इस प्रकार की आशंका थी। इसी कारण अर्जुन मनोव्यथा से प्रेरित होकर भगवान् श्रीकृष्ण से प्रश्न कर रहा था। अर्जुन का भय भौतिक भय नहीं, बल्कि परलोक का भय है कि अधर्म का साम्राज्य होगा, धर्म नष्ट हो जाएगा, जिसके कारण कुल दोष होगा और कुल दोष के कारण फिर अन्य असामाजिक तत्त्वों की वृद्धि होगी।

इसमें पहले जिस विचारधारा को व्यक्त किया गया है कि सम्पूर्ण कुल के ऊपर अधर्म का प्रभाव छा जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं, तो उस कुल में वर्णसङ्कर उत्पन्न होने लगते हैं। इसका मतलब यही होता है कि कुल की उत्तमता धीरे-धीरे समाप्त होती जाती है। कुल की उत्तमता के अनेक कारण होते हैं, मनुष्य के रज और वीर्य से ही कुल की उत्तमता को नहीं देखा जाता। कुल की उत्तमता का एक कारण संस्कार भी है। कुल में प्रचलित धर्म का आचरण है, आदि काल से चली आयी सनातन परम्परा का पालन होता रहा है, ये उत्तमता के द्योतक हैं।

युद्ध में जब स्त्रियाँ अकेली पड़ जाती हैं और शत्रु युद्ध जीतता है, तब फिर स्त्रियाँ तो सुरक्षित नहीं रहतीं और केवल युद्ध के जमाने में नहीं, बल्कि आज भी जो छोटी-मोटी लड़ाइयाँ इधर-उधर होती हैं या मनुष्य अपनी तामसिक प्रवृत्ति के कारण कर्म करता है, उससे भी यह बात समाज में स्पष्ट दिखलायी देती है कि सम्मान के स्थान पर स्त्रियों का अनादर होता है, उनका शीलभंग किया जाता है। अब इस अन्यायपूर्ण स्थिति में, दोषपूर्ण अवस्था में स्त्रियों की मानसिकता कैसी होगी? भय से प्रभावित। चौबीस घण्टे अपनी सुरक्षा की चिन्ता। इस प्रकार का भय हमेशा उनके मन में व्याप्त रहता है, तो फिर संतान पर इसकी प्रतिक्रिया, इसका प्रभाव क्या होगा? क्या वह अच्छे आचरणों से युक्त होकर जन्म लेगी या उसमें भी वही भय, आशंका, आन्तरिक, मानसिक, भावनात्मक असंतुलन हमेशा बना रहेगा?

अर्जुन इसी क्रम में आगे कहता है कि जब शत्रु विजय प्राप्त करके हमारे कुल की स्त्रियों को दूषित करेंगे, तब तो वे किसी मान-मर्यादा का ख्याल नहीं रखेंगे। उनके मन में द्वेष, क्रोध, घृणा और ईर्ष्या रहेगी। जब इन सबके प्रभाव में किसी नये प्राणी का जन्म होगा, तो उसकी मनोवृत्ति किस प्रकार की होगी? दोषपूर्ण ही होगी।

आजकल समाज में वर्णसङ्करता को काफी प्रश्रय मिला है। फलों में वर्णसङ्करता है। यहाँ तक कि जानवरों में भी वर्णसङ्करता है। वनस्पति जगत् में, पशु जगत् में कुछ हद तक वर्णसङ्करता के आने से, अर्थात् उत्तम नस्ल के क्रास से एक अच्छी उपज की सम्भावना रहती है। लेकिन जहाँ तक बुद्धिप्रधान जीवों का सवाल है, जहाँ तक तीन गुणों से युक्त मनुष्यों का सवाल है, वहाँ पर तामसिक तथा राजसिक भावों की अधिकता में वर्णसङ्करता दोषपूर्ण मानी जाती है। सात्त्विक भाव जिसमें प्रबल हो, जहाँ द्वेष नहीं, क्रोध

नहीं, बल्कि प्रेम प्रबल हो, वहाँ वर्णसङ्करता भी अच्छी होती है, दोषयुक्त नहीं होती है, ऐसी शास्त्रों की मान्यता है।

साथ-ही-साथ अर्जुन को यह भी भय था कि वर्णसङ्कर कुल को नरक में ले जाने के कारण भी होते हैं, क्योंकि उनमें धर्म का, संस्कार का, विचारों का अभाव रहता है। उनमें विचारों की तारतम्यता नहीं रहती, समानता नहीं रहती और वे अपनी परम्परा, प्रथा, विचारधारा और धर्म पद्धति में किसी प्रकार की श्रद्धा का भाव नहीं रखते। यही कारण है कि अर्जुन ने अंत में यह भी कहा कि पिण्डदान तथा जलदान की क्रिया के अभाव में पितर लोग भी पतित हो सकते हैं।

एक बहुत ही सुन्दर विचारधारा अर्जुन ने यहाँ पर प्रस्तुत की है। हमारे शास्त्रों में कहा गया है कि जब हम अपने पितरों के प्रति पिण्डदान तथा जलदान करते हैं, तो वे उसे प्राप्त करते हैं, और ऊर्ध्वगति को प्राप्त करते हैं। श्राद्ध शब्द श्रद्धा शब्द से बना है। श्रद्धापूर्वक हमने जो अर्पित किया, एक विश्वास के साथ हमने जो अर्पित किया अपने पितरों को, उसको श्राद्ध कहते हैं।

मनुष्य दो प्रकार के होते हैं। जब मनुष्य मरता है, जब उसके प्राण शरीर छोड़ते हैं, उस समय यदि उसका मन वासना से जुड़ा हो तो फिर वह वासना से प्रभावित होकर प्रेत रूप में मंडराता रहता है। संस्कृत में प्रेत शब्द प्र+इत से बना है। 'इत' का मतलब जो समाप्त हो गया। उसके पहले 'प्र' जुड़ा है। 'प्र' का मतलब जो अच्छी तरह से, प्रबल रूप से समाप्त हो गया है। लेकिन यहाँ पर हम लोग एक दूसरी विचारधारा को ही लेकर चलते हैं। संस्कृत की व्याख्या के अनुसार प्रेत का शब्दार्थ होता है वासनामुक्त, लेकिन हम लोग इसका उलटा मतलब लगाते हैं, जिस जीवात्मा ने वासनाजनित परिस्थिति में अपने आपको बाँध रखा है उसे हम प्रेत कहते हैं। ऐसे लोगों के लिये प्रेत शब्द प्रयुक्त किया जाता है जो मृत्यु के समय अपने परिवार का, अपने बेटे, बेटी, बीबी, बाप, भाई का चिन्तन करते रहते हैं कि मेरी मृत्यु के बाद इनका क्या होगा। हाय! मैं मर रहा हूँ।

यह बहुत ही विचित्र बात है। आप चाहे किसी व्यक्ति से पूछ लीजिये कि इस संसार में कौन-सी चीज निश्चित है, तो थोड़ा सोचकर ही कहेगा कि जन्म निश्चित है, मृत्यु निश्चित है और व्याधि निश्चित है। शास्त्रों में भी तो यही कहा गया है कि 'जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि' – ये चार चीजें निश्चित हैं। फिर यदि पूछा जाये कि आप चाहते क्या हैं, तो वह तीन बातें अवश्य कहेगा।

पहला, मैं बीमार नहीं पड़ना चाहता, जबकि वह जानता है कि व्याधि निश्चित है। दूसरा, मैं बूढ़ा नहीं होना चाहता, जबकि वह जानता है कि जरा निश्चित है। तीसरा, मैं मरना नहीं चाहता, जबकि वह जानता है कि मृत्यु निश्चित है।

इस प्रकार विवेकपूर्ण अविवेकी मनुष्य जब अपनी ही चिन्ता में लिपटा रहता है तब उस समय उसकी वासना को तृप्त करने के लिए, उसकी वासना को समाप्त करने के लिए, श्राद्ध का नियम बनाया गया है। जिस बेटे के प्रति वह वासनापूर्ण था, वही बेटा उसको श्रद्धा से युक्त होकर कुछ वस्तु अर्पित करेगा; जिस परिवार के प्रति वह वासनायुक्त था, उसी परिवार के लोग उसकी क्रिया संपादित करेंगे ताकि उसे लगे कि मैं इन्हें या ये लोग मुझे भूले नहीं हैं और मुझे सम्मान की दृष्टि से, श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। इसके ठीक उलटे दूसरे प्रकार के मनुष्य होते हैं, जो अपने ही आपमें मस्त रहते हैं। भगवान् का नाम लेते हैं, ईश्वर चिन्तन में सदा रमे रहते हैं। ईश्वर चिन्तन में रमे रहने का मतलब चौबीस घण्टे राम-राम जपना नहीं, बल्कि हमेशा ईश्वर का ख्याल बना रहे। जो व्यक्ति ईश्वर आश्रित होता है, उसका श्राद्ध नहीं किया जाता। योगी, महात्मा, संत, इनका श्राद्ध नहीं होता, बल्कि वे लोग तो अपनी अंतिम इच्छा में लिख देते हैं कि मुझको गंगाजी में बहा देना या पहाड़ पर कहीं छोड़ देना।

शंकराचार्य जी ने जब अपने शरीर को छोड़ा था तो किसने उनका श्राद्ध किया था? वहाँ तो कोई नहीं था, वे अकेले थे। जब उनका देहान्त हुआ था हिमालय की चोटियों में, उस समय तो उनके शिष्य भी उनके साथ नहीं थे। यह केवल एक उदाहरण है कि जो व्यक्ति ईश्वर आश्रित होता है, जिसको हम लोग संत कहते हैं, साधु कहते हैं, योगी कहते हैं, भक्त कहते हैं, जिनके हृदय में ईश्वर हमेशा बसे रहते हैं, उनको श्राद्ध की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उनकी मानसिकता वासनाजनित मानसिकता नहीं, बल्कि ईश्वर तत्त्व से ओत-प्रोत मानसिकता है।

यहाँ दो प्रकार की मानसिकतायें हैं – एक ईश्वर तत्त्व से ओत-प्रोत मानसिकता और दूसरी वासनाजनित मानसिकता। वासनाजनित मानसिकता को श्राद्ध की आवश्यकता होती है, लेकिन ईश्वर तत्त्व से ओत-प्रोत मानसिकता को इन सब कर्मकाण्डों से कुछ मतलब ही नहीं रहता। अगर जबरदस्ती उनके चेलों ने कुछ कर्मकाण्ड कर दिये तो कर दिये। अन्यथा वह अनावश्यक ही है और विधि-विधान के विपरीत भी। हाँ, कुछ लोग यह कह सकते हैं कि जब

व्यक्ति संसार को त्यागता है, संन्यास लेता है, तब वह संन्यास के समय अपना श्राद्ध स्वयं कर देता है। यह प्रथा है। जो लोग विरजा होम द्वारा संन्यास परम्परा में दीक्षित होते हैं, उन्हें अपना श्राद्ध खुद करना पड़ता है। यह इस कारण से कि अगर संसार या परिवार से जुड़ी हुई किसी प्रकार की वासना हमारे भीतर शेष है तो वह अपने द्वारा किये गये श्राद्ध में समाप्त हो जाए।

अगर संतों के जीवन को देखें तो श्राद्ध दिखलायी नहीं देता। रमण महर्षि ने अपना श्राद्ध नहीं किया था। किसी त्यागी महापुरुष ने अपना श्राद्ध नहीं किया। यहाँ तक कि रामकृष्ण परमहंस ने भी अपना श्राद्ध नहीं किया। वे उच्च कोटि के योगी थे। लोग कह सकते हैं कि वे गृहस्थ थे, इसलिये नहीं किया। लेकिन नहीं, वे गृहस्थ नहीं थे। वे परिवार में भले ही रहे, लेकिन वासनामुक्त होकर रहे। जो वासनायुक्त हो, वह गृहस्थ कहलाता है और जो वासनामुक्त हो, वह त्यागी कहलाता है। अर्जुन को वही भय था कि अगर हमारे कुल में वर्णसङ्करता आयेगी, स्त्रियाँ दोषपूर्ण हो जायेंगी, तो फिर अभी तक हम लोगों की जो परम्परा चली आयी है कि मृत्यु के समय कर्मकाण्ड करना, पूजा-पाठ करना, वह समाप्त हो जायेगी। फिर अपने जो धार्मिक रीति-रिवाज हैं, वे सब समाप्त हो जायेंगे। अधर्म का उत्थान होगा, धर्म का नाश होगा और जब धर्म का नाश होगा तो सभी नरक में जायेंगे, क्योंकि उनके कर्म उत्तम नहीं रहेंगे।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधमाश्च शाश्वताः ॥43॥

अर्थ

इन वर्णसङ्करकारक दोषों से कुलघातियों के सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं।

व्याख्या

यहाँ पर अर्जुन ने कुल धर्म के पहले जाति धर्म का नाम लिया है। अपनी पहली बात को ही वह और स्पष्ट कर रहा है कि संसार में जितने प्रकार के दोष हैं, वे सब के सब कुल का नाश होते ही बीज रूप में जाति के अन्दर घुस जाते हैं और फिर धीरे-धीरे मौका पाकर वे फैलने लगते हैं और दोषों के फैलते ही

जाति के पुराने रीति-रिवाज, धर्म-कर्म सब नष्ट होने लगते हैं। जब जातीय धर्म छिन्न-भिन्न हो जाता है तो कुल धर्म भी उससे प्रभावित होता है, समाप्त हो जाता है, क्योंकि कुल का धर्म-कर्म जाति के धर्म-कर्म पर ही निर्भर या आश्रित है। यह अर्जुन की स्पष्ट विचारधारा है, और उसको यही डर है कि जो कुलघातियों के द्वारा वर्णसङ्करता उत्पन्न करने वाले दोष पैदा होंगे, वे हमारे जाति धर्म और कुल धर्म, दोनों को नष्ट कर डालेंगे।

यहाँ पर जब वह जाति धर्म का नाम लेता है तब फिर पुनः उसका संकेत स्त्रियों की तरफ है, क्योंकि हमारी वैदिक परम्परा में शुरू से ही स्त्रियों को बहुत ऊँचा दर्जा दिया गया है। कहा जाता है, *'नार्याः यत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'* – जहाँ पर नारी की पूजा होती है, वहाँ पर देवताओं का निवास होता है। यह भी कहा जाता है कि जब कोई नारी कुमारी होती है, तब पिता उसकी रक्षा करते हैं, जब वह विवाहिता होती है, तब उसके पति उसकी रक्षा करते हैं, जब वह वृद्धा होती है, तब पुत्र उसकी रक्षा करता है। इस प्रकार जब नारी को हर तरह से सुरक्षा प्राप्त होती है, तब वह हमेशा सुरक्षित रहती है।

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ (मनु स्मृति 9/3)

अब इस युद्ध के उपरान्त जब वह असुरक्षित हो जायेगी, तो जो संतानें होंगी, वे संस्कारहीन होंगी। शास्त्रों का यह मानना है तथा विज्ञान भी आज इस बात को मानता है कि अगर पति धूर्त्त हो, गँवार हो और पत्नी विदुषी हो, ज्ञानी हो, तो जो संतान होगी वह संस्कारपूर्ण होगी। लेकिन अगर पिता ज्ञानी और माता अज्ञानी हो, धूर्त्त हो, गँवार हो, तो संतान को अच्छे संस्कार नहीं मिलेंगे। विज्ञान इस बात को स्वीकार करता है कि संतान को शरीर पिता से प्राप्त होता है, लेकिन मन, भावना, भावना की कोमलता, मन की स्पष्टता तथा संस्कार माता से प्राप्त होते हैं। पिता केवल शरीर देने वाला होता है, लेकिन संस्कार देने वाली हमेशा माता होती है। संतान किसके गर्भ में नौ महीने तक रहती है? नौ महीने तक तो माता के साथ ही रहती है। माता के विचार और संस्कार संतान को प्रभावित करते हैं, पिता के नहीं। जब उसका जन्म और पालन-पोषण होता है, उस दौरान भी पिता तो काम पर चले जाते हैं, घर में वह अधिक समय अपनी माँ के साथ ही रहता है। इस प्रकार भी देखा जाये तो मूल प्रवृत्ति, मूल विचार, जिसको संस्कार कहा जाये, वह सूत्र रूप में माँ से मिलता है और फिर

जीवन में वह अपने गुण के अनुसार उन सूत्रों का विकास करता है। अपना अलग एक व्यक्तित्व बनाता है।

अगर किसी कुल या किसी जाति में एक परम्परा चली आयी है, रीति-रिवाज चला आया है, तो उस रीति-रिवाज का ज्ञान और उसका पालन करने की प्रेरणा माँ से ही प्राप्त होती है। इसीलिये शास्त्रों में कहा गया है कि हमेशा महिलाओं को सुरक्षित रखना चाहिए। इस विचारधारा से जुड़े हुए हमारे अनेक प्रकार के कर्म होते हैं। उदाहरण के लिए, हम यात्रा पर जा रहे हैं। बस में बैठे हैं, किसी महिला को देखते हैं तो अपना स्थान उनको दे देते हैं। दूसरा उदाहरण, मान लीजिये कभी कोई जूलूस निकलता है, जिसमें पुरुष और महिलायें दोनों हैं, तो महिलाओं को बीच में रखा जाता है और पुरुष चारों तरफ घेर कर चलते हैं। यह केवल हमारे देश में ही नहीं, विदेशों में भी होता है। हाँ, आजकल पूरे विश्व में जो महिला स्वतंत्रता की एक प्रथा चली है, वह इस धर्म से जुड़ी हुई नहीं है, बल्कि वह तो सामाजिक अन्याय से जुड़ी हुई है कि समानता का दर्जा कार्यक्षेत्र में अथवा अन्य क्षेत्रों में मिलना चाहिए।

यहाँ पर जिस चीज की हम लोग चर्चा कर रहे हैं, वह है सनातन धार्मिक विचारधारा, क्योंकि अर्जुन के कहने का तात्पर्य यह भी है कि स्त्रियों को सुरक्षित रखना उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना एक गाय को सुरक्षित रखना। गाय का ख्याल क्यों रखना? गाय दूध देती है। अगर वह दूध फट जाये तो हम उसे फेंक सकते हैं, दूसरा दूध निकाल सकते हैं, लेकिन अगर गाय के स्तन में ही रोग हो जाये तो आपको कभी अच्छा दूध मिलेगा उस गाय से? कभी नहीं मिलेगा। इसलिये दूध की रक्षा करना इतना आवश्यक नहीं है, जितना गाय की। सम्भवत: यही विचारधारा है जिसने अर्जुन को यह कहने के लिये प्रेरित किया कि स्त्रियों की रक्षा करना हम लोगों का प्रथम कर्त्तव्य है ताकि जाति दोष न हो, कुल दोष न हो और अगर उनकी रक्षा हम नहीं कर सकते हैं, उनकी सुरक्षा का ख्याल नहीं कर सकते हैं, तो फिर जाति दोष होगा, कुल दोष होगा और सब समाप्त हो जायेगा।

वह केवल अपने कुल की बात नहीं कर रहा था, बल्कि समस्त उपस्थित भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से आये योद्धाओं की भी चर्चा कर रहा था कि वे भी तो अलग-अलग कुल से आये हैं, वे भी तो मरेंगे, वे भी तो अलग जाति के हैं, चाहे हमारे पक्ष के लोग मरें या दूसरे पक्ष के लोग मरें, लेकिन कुल नाश तो होगा ही और जब कुल नाश होगा तो कुलधर्म समाप्त हो जायेगा और अधर्म की

वृद्धि होगी, अधर्म की जब वृद्धि होगी, तब समाज विकृत हो जायेगा। कोई भी सामाजिक मान्यताओं का, विचारों का पालन नहीं करेगा, क्योंकि उन्हें इस प्रकार से शिक्षित करने वाला, शासित करने वाला कोई नहीं रहेगा। ज्ञानी, योद्धा, बुजुर्ग, जो समाज को एक दिशा दे सकते हैं, जब वे ही नहीं रहेंगे, तो समाज का उत्थान या अभ्युत्थान किस प्रकार होगा?

नयी पीढ़ी का अपना अलग मार्ग होगा, उनकी अपनी अलग विचारधारा होगी और उन पर अधर्म का शासन होगा, जो समाज के लिये उचित नहीं है। जिसके कारण हमारे पितर, जिन्हें हम श्रद्धापूर्वक देखते हैं, पिण्डदान करते हैं, जल दान करते हैं, वे भी अपने-अपने स्थान से पतित हो जायेंगे और उसी वर्णसङ्करता के कारण पूर्ण नाश की स्थिति रहेगी। जाति-धर्म तथा कुल धर्म, दोनों ही समाप्त हो जायेंगे।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥44॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥45॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥46॥

अर्थ

हे जनार्दन! जिनका कुल-धर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्यों का अनिश्चित काल तक नरक में वास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं।

हा! शोक! हम सब बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करने के लिये तैयार हो गये हैं, जो राज्य और सुख के लोभ से अपने स्वजनों को मारने के लिये उद्यत हो गये हैं। यदि मुझ शस्त्ररहित एवं सामना न करने वाले को शस्त्र हाथ में लिए हुए धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार डालते हैं, तो यह मरना भी मेरे लिए अधिक कल्याणकारक होगा, क्योंकि मैं उनसे युद्ध नहीं करना चाहता।

व्याख्या

अर्जुन अपने मन की शंका को व्यक्त करके अंतिम निर्णय भगवान् श्री कृष्ण को इन तीन श्लोकों में दे रहा है। वह कहता है कि यह युद्ध हमसे नहीं होगा,

क्योंकि जिन व्यक्तियों से कुल का धर्म नष्ट होता है, वे लोग अवश्य ही नरकगामी बनते हैं। उनको किसी प्रकार की मानसिक और भावनात्मक सुख-शान्ति कभी नहीं मिलती। वे अपने आपको हमेशा उन्हीं विचारों में घिरा हुआ महसूस करते हैं। दु:खित रहते हैं। किसी प्रकार का सुख भोग नहीं कर पाते। जीते जी उनका जीवन नरक तुल्य हो जाता है, कष्टमय हो जाता है, मानसिक व्याधि से पीड़ित हो जाते हैं। जीते जी जब इतना दु:ख है, तब जो पाप कर्म उन्होंने किया है, मृत्युपर्यन्त उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा, मरणोपरान्त नरक में भी जाना ही पड़ेगा। वहाँ पर तरह-तरह की यातनायें भोगनी ही पड़ेंगी। यह एक कारण है युद्ध नहीं चाहने का।

दूसरा कारण है लोभ। वह कौन-सी परिस्थिति है जो हमसे इतना बड़ा पाप करवा रही है? किस चीज के कारण पाप कर्म हो रहा है? लोभ के कारण। किस चीज का लोभ? राज्य का लोभ। दुर्योधन राज्य नहीं देना चाहता, वह उसका लोभ हुआ। हम लोग युद्ध के लिये यहाँ पर खड़े हैं, यह कह कर कि हम न्याय चाहते हैं, लेकिन न्याय के पीछे क्या हमारा लोभ नहीं है कि हमें राज्य मिले। यहाँ पर तो हमने अपने लोभ पर यह कहकर पर्दा डाल दिया है कि जो हमारा हक है, वह हमें मिलना चाहिये। हम तो अपना हक माँग भी नहीं रहे हैं, हम तो मात्र इतना कह रहे हैं कि हमें पाँच गाँव दे दो। अगर देखा जाये तो हमारा हक तो है इन्द्रप्रस्थ का पूरा राज्य, जिसका निर्माण हम लोगों ने खून-पसीना एक करके किया है।

राजसूय यज्ञ में विजय यात्रा करके हमने अनेक राजाओं को जीता है। असल में देखा जाये तो वह हमारा अपना है और अगर हमें हक बनाना है तो उस राज्य का बनेगा, लेकिन उस राज्य के हक को न माँग कर हम लोगों ने मात्र पाँच गाँव माँगे, और पाँच गाँव नहीं मिलने के कारण ही यह युद्ध हो रहा है।

इसका मतलब कि हम लोगों के मन में कहीं-न-कहीं पाँच गाँवों के प्रति भी लोभ तो होगा। अपने अन्तिम प्रस्ताव में तो हम लोगों ने यह कहा कि ठीक है हमको पाँच गाँव दो। दुर्योधन ने कहा कि नहीं, हम तुमको सुई की नोक के बराबर भी भूमि नहीं देंगे, तो हम लोगों ने कहा, ठीक है, तो अब युद्ध भूमि में आओ, फैसला होगा। तो लोभ, चाहे वह पाँच गाँवों का ही हो, उसी के कारण तो इतना बड़ा संग्राम होने जा रहा है, इतना बड़ा पाप होने जा रहा है। और हम उसके भागीदार बनना नहीं चाहते।

ये दो मुख्य कारण उसने कहे, और कहता है कि मैं अपने जितने विचारों को व्यक्त कर रहा हूँ, वह सब मैंने अपने गुरुओं से, स्वजनों से सुना है। जब अर्जुन यह कहता है कि ये सब मैंने अपने गुरुओं से सुना है, पढ़ा है, सीखा है, तब कृष्ण भगवान् कहते हैं कि देखो अर्जुन, तुम जो बात कह रहे हो, वह निश्चित रूप से युक्तिसंगत तो है, उसमें भी सत्य का अंश है। ऐसी बात नहीं कि तुम जो बात बोल रहे हो, वह गलत है, लेकिन इस बात को याद रखो कि तुमने केवल सुना है इस बात को। चाहे अपने गुरु द्रोणाचार्य से या कृपाचार्य से सीखा हो, चाहे भीष्म पितामह से या अपने अन्य बुजुर्गों से सीखा हो, चाहे अपने भाइयों से सुना हो, लेकिन सुनी हुई बात पर विश्वास नहीं करना चाहिए जब तक तुम्हारा खुद का अनुभव उसे प्रमाणित नहीं करता। अगर सुना है कहने के बदले में तुम कहते हो कि मैंने शास्त्र में पढ़ा है तो भी तुमको यह जानना चाहिए कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में शास्त्रों में भी अलग प्रकार का निर्णय दिया है। इस बात को तुम अच्छी तरह सोच-समझ लो। इस पर अर्जुन कहता है कि नहीं भगवान्, यह मुझसे नहीं होगा।

जैसे रिकार्ड बीच में कभी खराब हो जाये तो उसकी सुई बार-बार उसी जगह में आकर अटक जाती है और वह आगे नहीं बढ़ती, उसी घेरे में घूमती रहती है। वैसे ही यदि किसी का मन विक्षिप्त हो जाये, तो जो विचार प्रबल रूप से मन में छाता है, वह बाहर नहीं निकलता और उसी के कारण निराशा या विषाद बढ़ता है। मनोविज्ञान भी इस बात को मानता है कि जो विचार हमारे मन में छाया हुआ है और हमारी सभी क्रियाओं, विचारों और व्यवहारों को प्रभावित कर रहा है, अगर उससे अपने आप को हटा लिया जाए, तो निराशा का कोई कारण ही नहीं रहेगा, चिन्ता और परेशानी का कोई कारण ही नहीं रहेगा।

भगवान् देख रहे हैं कि अर्जुन एक मानसिक रोगी बन रहा है, वह अपने आपको अपनी विचारधारा से दूर नहीं कर पा रहा है। जब तक आदमी अपने विचार से अपने आपको दूर नहीं करता, जब तक उसके मन में स्पष्टता नहीं आती, तब तक उसको दूसरा मार्ग भी दिखलायी नहीं देता।

ईशावास्य उपनिषद् में भी कहा है कि विद्या ही मनुष्य को अंधकार की ओर ले जाती है और विद्या ही मनुष्य को अमृतत्व की ओर ले जाती है। विद्या के ये दो रूप होते है। महर्षि अरविन्द ने भी ईशावास्य उपनिषद् के वाक्य को आधुनिक भाषा में कहा कि हमारी जो बुद्धि है, प्रारंभ में तो हमारा

साथ देती है, लेकिन बाद में वही बुद्धि बाधक बनकर खड़ी होती है। यह वाक्य ईशावास्य उपनिषद् के इसी मंत्र को समझाता है कि हम लोग अपनी क्षमताओं का दो रूपों में प्रयोग करते हैं। क्षमता या बुद्धि का प्रयोग तो एक रूप में होता है, लेकिन उसके दो परिणाम होते हैं। बुद्धि का प्रयोग होता है ग्रहण करने में, लेकिन जब हम अपनी प्रवृत्ति और गुणों के अनुसार किसी एक विचार को ग्रहण कर लेते हैं, तो फिर उसका वर्गीकरण होता है। फिर जिस ज्ञान को हमने ग्रहण किया, अपने विचार के अनुसार, उसका विश्लेषण करते हैं।

हमारे विचार गुणों से प्रभावित हैं, पूर्व संस्कारों से प्रभावित हैं। अगर संस्कार नकारात्मक या संकीर्ण रहेंगे, गुण राजसिक या तामसिक रहेंगे, तो वह ज्ञान राजसिक और तामसिक होगा। अगर हमारे भीतर सकारात्मक भावना प्रबल रहे, निःस्वार्थ भावना, परहित की भावना, सात्त्विक भावना प्रबल रहे, तो वह ज्ञान हमारे जीवन में सत्य के रूप में प्रकट होता है।

सामान्य रूप से जब हम पीड़ा में रहते हैं, तब पीड़ा की वह स्थिति हमारे स्वार्थ से जुड़ी रहती है। कोई व्यक्ति यह नहीं चाहता कि हम दुःखी हों। जब व्यक्ति दुःखी होता है तब तामसिकता, निष्कर्मण्यता और निराशा का भाव जाग्रत होता है। यही स्थिति अर्जुन की हो रही है। जब भगवान् अर्जुन को कहते हैं कि अनुभव पर आश्रित ज्ञान होना चाहिए, धर्म शास्त्र चाहे जो कहें, अपने अनुभव से तुम उसे प्रमाणित करो। तुम्हारे गुरुजन चाहे जो कहें, अनुभव से उसे प्रमाणित करो। इसका अर्थ यह नहीं कि धर्म शास्त्र मिथ्या हैं या तुम्हारे गुरुजन गलत हैं या तुम्हारे बुजुर्ग गलत हैं या तुम्हारे श्रेष्ठ गलत हैं। इसका मात्र इतना अर्थ निकलता है कि अगर तुम्हें किसी ने इस प्रकार का ज्ञान दिया हो, चाहे धर्म शास्त्र ने ही क्यों न दिया हो, या तुम्हारे गुरु ने ही क्यों न दिया हो, उन्होंने अपने एक अनुभव के आधार पर उसे एक निश्चित मत का रूप दिया है, तुम उसे सुन लो, समझो और खुद पुरुषार्थ करके, प्रयास करके उस मत को अनुभव के रूप में अपने जीवन में उतारो, तब ही वह सिद्ध होगा और तुम्हारा स्वयं का मत होगा।

जब तुम एक मत को अपने जीवन में अनुभव के रूप में उतारते हो तब तुम्हें किसी से प्रमाणित करवाने की आवश्यकता नहीं रहती, तुम खुद ज्ञाता बनते हो। तो अर्जुन कहता है कि अगर मैं निहत्था होकर बैठ जाऊँ और कौरव मुझे मार भी डालें, तो उसे मैं कल्याण ही समझूँगा।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्   ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥47॥

अर्थ

संजय बोले – रणभूमि में शोक से उद्विग्न मन वाले अर्जुन इस प्रकार कहकर, बाण सहित धनुष को त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ गये।

व्याख्या

ये जो उपाविशत् शब्द का यहाँ प्रयोग किया गया है, वह ध्यान देने योग्य है। इसका मतलब यह हुआ कि अभी तक अर्जुन खड़ा था। जब आप किसी चीज को देखना चाहते हैं, तो खड़े हो जाते हैं। यह एक सामान्य प्रक्रिया होती है और अर्जुन तो दोनों सेनाओं का निरीक्षण कर रहा था, और दोनों सेनाओं का निरीक्षण वह रथ में खड़ा होकर कर रहा था। इस प्रकार की बात कह कर अंत में वह निराश होता है; क्या करें, क्या न करें, उसे समझ में नहीं आता, वह शोक में व्याकुल होकर बैठ जाता है। जब कोई चिन्ता या परेशानी होती है, तो हम लोग भी सिर पर हाथ धर कर बैठ जाते हैं। अर्जुन के साथ भी यही घटना घटी।

अर्जुन के मन में जो शोक हो रहा था, उसका कारण मोह था, उसका कारण अर्जुन का ज्ञान या वैराग्य नहीं था। अगर वैराग्य का शोक होता तो परिस्थिति दूसरी रहती, लेकिन उसको जो शोक हो रहा था, वह लोभ के कारण कि सब कोई मर जायेंगे, फिर राज्य कौन करेगा।

जहाँ भी वह कहता है कि कोई रहेगा ही नहीं, दोनों पक्षों के लोग मर जायेंगे, वहाँ उसका वैराग्य नहीं है। यह तो उसका मोह दिखलायी दे रहा है और मोह से जब मनुष्य ग्रस्त होता है, तब वह अपनी मानसिक स्पष्टता खो देता है। अगर वैराग्य के कारण अर्जुन की यह स्थिति होती, तो वैराग्य के साथ दो चीजें और भी रहतीं। वैराग्य के साथ ज्ञान भी रहता और भक्ति भी। इस समय अर्जुन के जीवन में न तो भक्ति है, क्योंकि कृष्ण भगवान् उसे बार-बार कह रहे हैं कि देखो अर्जुन, यह सब बातें छोड़ो, युद्ध करो। भक्ति रहती तो वह एक ही बार में बात मान लेता। ज्ञान भी नहीं है, जिसको उसने खुद ही स्वीकार

किया है कि मैंने सुनी हुई बात कही है। अगर ज्ञान रहता तो उसके मन में इस प्रकार के संदेह भी नहीं उठते।

वैराग्य की जो वास्तविक अवस्था है, वह भक्ति और ज्ञान के बिना कभी किसी मनुष्य में उत्पन्न नहीं होती। चाहे वह भक्ति ईश्वर के प्रति हो, चाहे वह ज्ञान संसार की नश्वरता के प्रति हो। अगर ईश्वर के प्रति भक्ति है, तो वैराग्य होगा। अगर संसार की नश्वरता के प्रति ज्ञान है, तो वैराग्य होगा। आज अगर हम लोगों के मन में किसी प्रकार का वैराग्य हो, जिसे हम सच्चा माने, तो उसके ये दो ही मुख्य कारण हैं। वैसे वैराग्य तो अनेक प्रकार के होते हैं, श्मशान वैराग्य भी होता है कि अपने किसी निकटतम स्वजन या मित्र या प्रेमी या गुरु या और किसी को मृत देखकर या उसके शव को चिता में डालते हुए देखकर विचार आता है कि देखो न, कल तक तो भला चंगा आदमी था, हम लोगों के साथ खेल रहा था, हँस कर बात कर रहा था, आज नहीं है। कल तो उसका अभाव हो जायेगा हमारे जीवन में। यह संसार क्या है, यह तो क्षणभर की चीज है, यह तो मिथ्या है। यह है श्मशान वैराग्य, क्षणिक ज्ञान और इस क्षणिक ज्ञान के पश्चात् फिर दूसरे दिन उसी मोह-माया में लिप्त।

वैराग्य अनेक प्रकार के हैं, लेकिन जो स्थायी वैराग्य होता है, उसके दो आधार हैं – ईश्वर के प्रति भक्ति और संसार की नश्वरता का, जीवन के अस्थायीपन का ज्ञान। लेकिन अर्जुन का वैराग्य मोहजनित था, उसी को लेकर कृष्ण भगवान् अर्जुन को समझाते हैं कि यह सब गलत है, अपने मन को सम्भालो और जब तुम्हारा मन सम्भलेगा, तब तुम्हारी बुद्धि सम्भलेगी, तुम्हारा विवेक सम्भलेगा, तुम्हारा कर्म सम्भलेगा, तुम्हारा व्यवहार सम्भलेगा। उसकी शिक्षा वे दूसरे अध्याय में देते हैं।

इस प्रकार जब अर्जुन युद्ध भूमि में धनुष-बाण त्यागकर अपने हाथ-पैर समेट लेता है, तब भगवान् श्रीकृष्ण सोचते हैं कि इसको कैसे समझायें। तो विचारते हैं कि दो काम मुझको करने हैं, एक तो इसको यह बतलाना है कि मन पर कैसे नियन्त्रण प्राप्त किया जाए और दूसरा यह जानना है कि मेरी इस बात को ग्रहण करने के लिए यह तैयार है या नहीं। अगर यह तैयार नहीं है तो 'गधे को खिलाया पाप न पुण्य।' गधा, गधा ही रहेगा, लेकिन अगर यह तैयार है, तो मेरी बात समझकर फिर युद्ध के लिये तत्पर होगा।











द्वादश अध्याय

विषय प्रवेश

सामान्य जीवन में गीता योग शास्त्र के बारहवें अध्याय का पाठ प्राय: हर व्यक्ति करता है तथा परिवारों में भी बालकों को बारहवाँ अध्याय कण्ठस्थ करने का निर्देश दिया जाता है। भक्ति योग से सम्बन्धित इस अध्याय को सरल एवं सहज भी माना गया है, लेकिन इस अध्याय को तथा इसके विषय को समझना अत्यन्त कठिन है। इस अध्याय में वर्णित भक्ति की परिभाषा या व्याख्या को समझना तथा पालन करना सरल नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण गीता योग शास्त्र में जीवन तथा कर्म की एक भूमिका बनाते-बनाते कहीं साकार उपासना का वर्णन करते हैं, तो कहीं निराकार की, कहीं सगुण, तो कहीं निर्गुण उपासना की विधियों की चर्चा करते हैं। ग्यारहवें अध्याय में करुणा कर अर्जुन को अपने साकार विश्वरूप का दर्शन भी देते हैं। विश्वरूप दर्शन के पश्चात् प्रभु यह भी कहते हैं कि जो उपासक मेरी साकार अनुभूति के लिए शरीर, वचन तथा मन से कर्म करता है, वही मुझे प्राप्त करता है।

प्रभु ने स्पष्ट कहा है कि जो उपासक मुझ साकार की प्राप्ति के लिए, अर्थात् जिस रूप में मैंने स्वयं को व्यक्त किया है, उसकी अनुभूति तथा प्राप्ति के लिए शरीर, वाणी तथा अन्त:करण से कर्म या प्रयास करता है, वह मुझे प्राप्त करता है।

प्रभु ने यह भी कहा कि जो मुझे ही सबसे बड़ा मानता है, वह भी मुझको प्राप्त करता है। मुझे बड़ा मानने का तात्पर्य यहाँ पर कृष्ण के शरीर से नहीं, बल्कि साकार विश्वरूप से है। जो उपासक या साधक साकार रूप में अपनी निष्ठा और श्रद्धा समर्पित करता है तथा इसी रूप में सम्पूर्ण चर एवं अचर जगत् के प्रतिबिम्ब को, व्यक्त एवं अव्यक्त सृष्टि को देखता है, वही उन्हें प्राप्त करता है। विराट् रूप दर्शन में बतलाया गया है कि सम्पूर्ण सृष्टि, पूरा ब्रह्माण्ड, चराचर जगत् उनके विश्व शरीर में विद्यमान है। जो मनुष्य प्रभु के साकार रूप में इस विश्व को देखता है और परमेश्वर को सभी प्राणियों, जगत् की सभी अनुभवगम्य अवस्थाओं और पदार्थों से बड़ा, ऊँचा तथा परे एवं प्राप्य मानता है, वैसा मनुष्य निश्चय ही प्रयास एवं साधना से ईश्वर को प्राप्त करता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो उपासक सांसारिक विषयों में आसक्त नहीं रहता और मेरी भक्ति से ओत-प्रोत रहता है, वह मुझे प्राप्त करता है। यहाँ भक्ति की एक परिभाषा स्पष्ट रूप से दिखलायी दे रही है। वह है स्वयं को अपने इष्ट में समाहित कर देना। जब मैं स्वयं को अपने इष्ट में समाहित कर देता हूँ, तब फिर सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति कैसे रहेगी? विषयों के तरफ मन जायेगा ही नहीं। जो उपासक अपने जीवन में अनासक्त भाव से भक्ति या एकात्म भाव का अनुभव करता है एवं उसमें ही स्वयं को ओत-प्रोत पाता है, वह निश्चय ही ईश्वरत्व की प्राप्ति करता है। जीवन में ईश्वरत्व के साथ पूर्ण तादात्म्य होना आवश्यक है, स्वयं के साथ नहीं। अगर भक्त में स्वयं के साथ भी किसी प्रकार का तादात्म्य हो, तो वह पूर्ण भक्ति नहीं, अपूर्ण भक्ति है।

प्रभु यह भी विश्वास दिलाते हैं कि जो प्राणी सभी जीवों के साथ समान भाव से प्रेम रखता है तथा वैर भाव को भूल जाता है, वह भी उन्हें प्राप्त करेगा। विराट् रूप दिखाने के पश्चात् प्रभु बतलाते हैं कि साकार में तो मैं हूँ ही, लेकिन जब मेरा उपासक सभी जीवों में मेरे रूप को देखकर सभी जीवों से प्रेम करने लगता है, जो वैर भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें भी वह दूर हटाने में सक्षम हो जाता है, तब उस अवस्था में भी वह मुझे प्राप्त करता है।

साकार ईश्वर का मूर्त रूप है और अमूर्त रूप वह है, जो सभी में व्याप्त है। यह अमूर्त रूप निराकार नहीं है। उदाहरणार्थ, धूप में खड़े होने पर शरीर के साथ उसकी छाया भी दिखलायी देती है। छाया शरीर से भिन्न नहीं है, लेकिन छाया में शरीर के विभिन्न अंग स्पष्ट दिखलायी नहीं देते। छाया का चेहरा, उसकी नाक, कान, मुँह इत्यादि को हम देख नहीं सकते हैं। अत: शरीर है मूर्त

रूप, जिसे हम पहचान सकते हैं और छाया है अमूर्त रूप। छाया शरीर का ही एक स्वरूप है, छाया शरीर के अनुरूप रहती है, लेकिन शरीर की तरह उसकी पहचान नहीं है। किसी भी प्राणी में बाह्य रूप से ईश्वर दिखलायी नहीं देता, लेकिन व्यक्ति में ईश्वरत्व भाव आ जाने के पश्चात् समस्त प्राणियों में ईश्वर की ही छवि दिखलायी देती है, प्राणी रूप में ईश्वर ही दिखलायी देता है।

गीता योग शास्त्र के पूर्व अध्यायों में कहीं पर साकार और कहीं निराकार रूप की महत्ता बतलाते हुए प्रभु ग्यारहवें अध्याय में अपना विराट् विश्वरूप दिखाकर अर्जुन को आश्वासन देते हैं। इतना सब जानने के पश्चात् भी अर्जुन के मन में शंका उत्पन्न होती है। वह सोचता है कि पहले प्रभु ने सभी प्रकार की उपासनाओं का उल्लेख किया है, पर साकार एवं निराकार उपासना की चर्चा के पश्चात् कहते हैं कि दोनों ही श्रेष्ठ हैं। अभी-अभी मुझे अपना विराट् विश्वरूप दिखलाकर कहते हैं कि जो मुझ साकार में अपने आपको समर्पित कर दे, वह मुझे प्राप्त करता है। इसका मतलब यह कि दोनों में कोई एक मार्ग ही अधिक श्रेष्ठ होना चाहिए। दोनों मार्ग अनुकरणीय हैं, लेकिन इन दोनों में कोई उत्तम कोटि का तथा कोई मध्यम कोटि का मार्ग होगा। साकार और निराकार उपासनाओं में भी कोई उत्तम कोटि और कोई मध्यम कोटि की है क्या? अगर उत्तम और मध्यम मार्ग हैं, तो कौन से हैं? अपनी इस शंका को वीर अर्जुन प्रभु के समक्ष प्रस्तुत करता है।



॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥1॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥2॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥3॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥4॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥5॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥6॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥7॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥8॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥9॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ 10 ॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ 11 ॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ 12 ॥
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ 13 ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ 14 ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ 15 ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ 16 ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ 17 ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ 18 ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ 19 ॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ 20 ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो
नाम द्वादशोऽध्यायः ॥



ॐ

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥1॥

अर्थ

अर्जुन ने कहा–जो उपासक इस प्रकार सदा आपसे जुड़े रहकर आप (साकार) की हर प्रकार से उपासना करते हैं, तथा जो अविनाशी और अव्यक्त निराकार की उपासना करते हैं, इन दो प्रकार के उपासकों में उत्तम योगवेत्ता कौन है?

व्याख्या

छठे अध्याय में प्रभु कहते हैं–

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

सरल भाषा में इसका अर्थ यही होगा कि योगियों से भी अधिक वह भक्त मुझे प्रिय है, जो मुझको भजता है। पूर्व में प्रभु ने कह दिया है कि जो योगी, साधक, तपस्वी और उपासक विभिन्न मार्गों को अपनाकर मुझे प्राप्त करने की कोशिश करते हैं, उनसे अधिक श्रेष्ठ तथा प्रिय वही है, जो मुझ में हमेशा रत रहता है।

समाज में प्रचलित मान्यता तो यही है कि आत्मोपासना, आत्मानुभव, आत्मप्राप्ति, आत्मज्ञान या आत्मसाक्षात्कार के लिए जो भी उपाय या विधियाँ मनुष्य अपनाता है, उनमें भक्ति योग ही सब से सरल, सुसाध्य, सुलभ और श्रेष्ठ है। परम गुरु स्वामी शिवानन्द जी कहा करते थे कि भक्तियोग सर्वाधिक द्रुत, निरापद, सुगम और निश्चित मार्ग है। शास्त्र भी कहते हैं कि कलियुग में केवल भगवत् नाम स्मरण मनुष्य को मुक्ति के द्वार तक ले जाने में सक्षम है।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ।।

लेकिन भक्ति के सम्बन्ध में एक समस्या उठ खड़ी होती है कि भक्ति के विषय में जब हम बौद्धिक विश्लेषण एवं चिन्तन करने लगते हैं, तब भक्ति की अवस्था और इसके गूढ़ रहस्य को समझ नहीं पाते। आप स्वयं चिन्तन कीजिये कि आपके व्यक्तिगत जीवन में भक्ति की क्या अवधारणा है। क्या ईश्वर में आस्था रखना ही भक्ति है? क्या रोज प्रात: मंदिर में धूप-दीप दिखाना ही भक्ति है? क्या सत्संग और संतों की सेवा ही भक्ति है? क्या हरि कथा प्रसंग सुनकर अश्रुपात या रोमाञ्च हो जाना ही भक्ति है? हर व्यक्ति की अलग-अलग परिभाषा होती है भक्ति की, और अपनी परिभाषा एवं विचारधारा के अनुसार हम कभी साकार को महत्त्व देते हैं, कभी निराकार को।

मान लें कि हम साकार की उपासना करते आये हैं और कोई हमें कह दे कि साकार की नहीं, निराकार की उपासना उत्तम है, तो हम पूर्व की उपासना को छोड़ कर इस नवीन उपासना में लग जाते हैं। उपासना में यह परिवर्तन स्वयं अन्तर्द्वन्द्व का परिचायक है, क्योंकि हमें खुद मालूम नहीं कि भक्ति क्या है। कोई कहता है साकार की उपासना करो, तो हम उसे ही उत्तम मानकर वही करते हैं। कोई कहता है कि निराकार की उपासना करो, तो हम उसे ही उत्तम मानकर करने लगते हैं। ऐसा तो मनुष्य का भ्रान्तिपूर्ण स्वभाव है तथा स्वभाव की यही चञ्चलता व्यवहार, विचार और कर्म में दिखलायी देती है। जब साधक अपनी अस्थिर मानसिकता को शान्त कर, स्थिर और केन्द्रित होकर, दोनों में से किसी एक मार्ग को पकड़ता है, तब उसी मार्ग में उसे उपलब्धि होती है।

वास्तव में साकार और निराकार, दो अलग मार्ग होते हुए भी इनके गुणों में कोई भेद नहीं है, लेकिन जीवन में मनुष्य का कोई साधनात्मक आधार,

साधनात्मक भूमिका नहीं होने पर बौद्धिक रूप से सब समझते हुए भी वह अन्तर्द्वन्द्व में पड़ा रहता है। हम आपको कहते हैं कि एक इष्ट पर ध्यान करो, एक मंत्र का जप करो, तो आप उसे यंत्रवत् करने लगते हैं, क्योंकि स्वामीजी ने कहा है। बाद में किसी दूसरे महात्मा से मिलते हैं और वे आपको एक अन्य पद्धति की शिक्षा देते हैं, फिर आप उसे भी अपना लेते हैं। जीवन में साधनात्मक भूमिका के अभाव में कभी इधर, कभी उधर डगमगाते रहते हैं और प्रश्न करते हैं कि साकार और निराकार में भेद क्या है।

साकार और निराकार, दोनों एक ही परमात्मा को अपने भीतर में धारण करने की प्रक्रियायें हैं। चाहे परमात्मा को साकार रूप में धारण करो, चाहे निराकार रूप में, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। साकार और निराकार को हम जल और वाष्प के रूप में देखते हैं। दोनों में भेद क्या है? भेद है और नहीं भी है, क्योंकि वाष्प जल का गैसीय रूप है और जब वही वाष्प संघनित हो जाती है, तो जल का रूप ले लेती है। अगर एक बाल्टी पानी आपके ऊपर फेंका जाये तो चोट लग सकती है, लेकिन कितनी ही जल वाष्प आपके ऊपर फेंकी जाये, चोट नहीं लगेगी। अगर कमरे में जल वाष्प भरी हो तो उस कमरे में आपको इधर से उधर जाने में कोई कठिनाई नहीं होगी, पर जब वाष्प जल बनकर जलाशय और नदी का रूप धारण करती है, तब उस जलराशि में चलना सम्भव नहीं होता। तत्त्व एक है, लेकिन गुणों में अन्तर आ जाता है। निराकार और साकार भी इसी के सदृश हैं। निराकार वाष्प और साकार जल है।

साकार जल है, क्योंकि साकार की अनेक रूपों में अभिव्यक्ति होती है। जल हमेशा ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित होता है और अपने प्रवाह क्रम में अनेक धाराओं में परिवर्तित होता है। वह जल अनेक प्रकार की भूमियों से गुजरता है। निराकार वाष्प के सदृश है, गैसीय। वह जल की तरह नहीं बहता। निराकार अवस्था अपने आप में समाहित होने की स्थिति है, जहाँ पर किसी प्रकार की अभिव्यक्ति नहीं, निश्चित गति या प्रवाह नहीं है। इसलिए निराकार वाष्प और साकार जल है।

अब प्रश्न है कि इन दोनों में अधिक गौरव किसको मिलता है। एक ही परमात्मा के साकार और निराकार, दोनों गुण हैं। रामचरितमानस में तुलसीदास ने कहा है –

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा ॥

इनमें से मनुष्य के लिये कौन उत्तम योग देता है? अर्जुन का प्रश्न है कि प्रभु आपने अपने दोनों गुणों को बतला दिया, अब यह बतलाइये कि इन दोनों के अनुयायियों में उत्तम योगवेत्ता कौन है।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥2॥

अर्थ

श्रीभगवान् ने कहा – मुझमें (साकार में) अपने मन को एकाग्र करके निरंतर मुझ में युक्त रहने वाले जो सेवक अतिशय श्रद्धा से युक्त होकर मेरी (सगुण रूप की) उपासना करते हैं, वे मुझे दोनों तरह के सेवकों में उत्तम योगी मान्य हैं।

व्याख्या

संसार में दो प्रकार की उपासनायें प्रचलित हैं, साकार और निराकार। दोनों में समानता अवश्य है, लेकिन साकार सरल है और निराकार कठिन। एक मनुष्य जिसकी कोई साधनात्मक भूमिका नहीं है, वह सर्वप्रथम किस मार्ग का चयन करेगा? चयन करता है साकार मार्ग का। भक्ति में पहला कदम साकार से लिया जाता है। इसीलिये प्रभु कहते हैं कि साकार ही, जहाँ से भक्ति का प्रारम्भ होता है, मुझे अधिक मान्य है।

साकार के द्वारा ही मानव जीवन में परिवर्तन होना सम्भव है, क्योंकि इस उपासना के क्रम में ईश्वर तत्त्व में मन को केन्द्रित करना सहज होता है। निराकार की उपासना में ईश्वरीय तत्त्व पर मन को केन्द्रित करना अत्यन्त कठिन हो जाता है, क्योंकि निराकार में सभी अनुभूतियों का निषेध होना आवश्यक है। अगर निराकार में सभी अनुभूतियों का निषेध हो जाये, तो आत्मिक, आध्यात्मिक चेतना की उन्नति एवं प्रगति, चेतना की विभिन्न अवस्थाओं एवं आयामों में विकास और परिवर्तन कैसे सम्भव होगा? निराकार की स्थिति है – नेति, नेति, यह नहीं, यह नहीं। इसीलिये इस श्लोक में प्रभु ने अपनी स्वीकृति साकार उपासना को प्रदान की है। प्रभु की मान्यता है कि जो भक्त या उपासक अपनी सम्पूर्ण भावना को केन्द्रित कर उनके साकार रूप

की उपासना करता है, उनके साकार रूप में एकमय होने का प्रयत्न करता है, वह उत्तम योगवेत्ता है। साकार उपासना को इसलिये भी श्रेष्ठ माना जाता है कि साधारण-से-साधारण मन भी साकार में स्वयं को स्थिर कर लेता है। चेतना की एकाग्रता का प्रारम्भ होता है साकार उपासना से।

इस श्लोक में 'परया' अर्थात् श्रेष्ठ या उत्तम शब्द का प्रयोग किया गया है। श्रेष्ठ या उत्तम कहना तो मानव स्वभाव है। सभी अपने आपको, अपनी अनुभूति को, अपने जीवन-सिद्धान्त एवं दर्शन को श्रेष्ठ कहते हैं। प्रत्येक धर्म, जाति, सम्प्रदाय, समाज अपने को श्रेष्ठ समझता है। इस श्लोक में प्रभु ने भी साकार उपासना को श्रेष्ठ माना है। सामान्यतया मनुष्य श्रेष्ठ का मतलब लगाता है उन्नत, उत्कृष्ट और प्रसिद्ध। इस बात को याद रखें कि साकार और निराकार के उपासकों को मोक्ष साध्य है। दोनों को ईश्वर प्राप्ति सम्भव है। जब प्रभु कहते हैं कि जो मुझ (साकार) में मन को केन्द्रित कर पूर्ण श्रद्धा से युक्त होकर नित्य-निरंतर मेरी उपासना करते हैं, वही मुझे प्रिय हैं, उत्तम हैं, श्रेष्ठ हैं, तो उनका तात्पर्य किसी एक व्यक्ति से नहीं, वरन् हर प्राणी से है, जिसने पूर्व की अपनी समस्त विचारधाराओं को त्याग कर स्वयं को समर्पित कर दिया है।

साकार रूप में समर्पण की स्थिति का आना उत्तम है, क्योंकि द्वैत को समाप्त करने और अद्वैत की साधना के लिए साकार सुलभ है। निराकार उपासना में कभी-कभी सरदर्द होता है, भ्रम होता है कि मैं जो कर रहा हूँ, वह ठीक है या नहीं, मैं गलत रास्ते में तो नहीं हूँ। कभी-कभी निराकार रूप के साधक को कठिन तपस्या करनी पड़ती है, कभी-कभी सुषुप्ति का अनुभव होता है, क्योंकि मन को केन्द्रित रखने का कोई आधार तो रहता नहीं।

साकार में प्रीति हो जाती है, मन मिट जाता है, सुख प्राप्त होता है, नम्रता और एकाग्रता की स्थिति प्राप्त होती है। ये सभी साकार की अवस्थायें हैं, जो एक साधक अपने जीवन में अनुभव करता है। इसका मतलब यह नहीं कि निराकार हेय या उपेक्ष्य है। याद रखिये कि निराकार उपासना विलक्षण, प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों के लिए है, जिन्होंने उस उच्च, परा अवस्था या विचार को प्राप्त किया है।

यहाँ ऐसा लगता है कि अर्जुन पुनः शंका कर रहा है। अर्जुन की शंका के बारे में हम केवल अंदाज लगा रहे हैं, गीता में इसकी चर्चा नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि अर्जुन के मन में एक प्रश्न उठा, वह यह कि अगर साकार

उपासक को ही प्रभु की सम्मति मिली है, तो निराकार उपासक कौन एवं कैसे हैं? क्या वे योगवेत्ता नहीं? इसे प्रभु स्पष्ट करते हैं कि ऐसी बात नहीं, निराकारी साधक भी योगवेत्ता हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥3॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥4॥

अर्थ

श्रीभगवान् ने कहा – जो इन्द्रिय समूह को अच्छी तरह से नियन्त्रित कर अचिन्त्य, सर्वव्यापी, अवर्णनीय और गूढ़ स्थान में रहने वाले निश्चित, अचल, अव्यक्त और अविनाशी निराकार रूप की उपासना करते हैं, वे सभी भूतों (भगवान् के प्रकट रूपों) की भलाई में लगे रहने वाले तथा समान बुद्धि से सबके साथ व्यवहार करने वाले साधक भी मुझको ही प्राप्त करते हैं।

व्याख्या

आठवें अध्याय के बारहवें और तेरहवें श्लोकों में कहा गया है –

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

अर्थात् जो समस्त इन्द्रियों को विषयों से हटाकर तथा मन को हृदय में एकाग्र कर, प्राण को शीर्ष भाग में स्थापित कर तथा योग धारणा में स्थित होकर 'ॐ' रूपी अक्षर ब्रह्म का चिन्तन करते हैं, वे उपासक भी परमगति को प्राप्त होते हैं।

पहले से ही प्रभु कहते आये हैं कि अव्यक्त निराकार स्वरूप को भी मनुष्य प्राप्त कर सकता है। इस मार्ग में चलने के लिये साधक को कुछ नियमों तथा शर्तों का पालन करना होता है। साकार उपासना में कोई शर्त नहीं है। निराकार में कुछ शर्तें हैं – एक तो है इन्द्रियों को अपने वश में रखो। इन्द्रियों के समूह

को नियन्त्रित करना है। यहाँ इन्द्रिय समूह में कर्मेन्द्रियाँ या ज्ञानेन्द्रियाँ ही नहीं, अपितु बुद्धि, मन, चित्त एवं अहंकार भी हैं। इन्हें वश में कर, चेतना को स्थिर एवं एकाग्र कर, अव्यक्त, अक्षर ब्रह्म की अनुभूति में स्वयं को केन्द्रित करना है।

दूसरी शर्त है – सभी प्राणियों के हित में लगे रहो। भगवान् कहते हैं, जो सेवा भाव में मग्न रहते हैं, वे मुझे प्राप्त करते हैं। प्राणियों के हित में रहने का तात्पर्य है ईश्वर की सर्वव्यापकता के अनुभव तथा समबुद्धि से सभी प्राणियों का हित करना, भेद बुद्धि से नहीं। साकार में भेद बुद्धि भी स्वीकार्य है। निराकार में सम बुद्धि का तात्पर्य है संतुलित बुद्धि से। सम बुद्धि युक्त होने का तात्पर्य है, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की अभिव्यक्ति में समानता को धारण करना। इस प्रकार के पालनीय नियम निराकार उपासना के आधार तथा शर्त हैं। जो व्यक्ति इन नियमों का पालन करता है, वह भी ईश्वर को प्रिय है तथा जो व्यक्ति साकार उपासना में मग्न है, वह भी ईश्वर को प्रिय है। लेकिन जो साधक आध्यात्मिक जीवन के आधार को समझे बिना निराकार उपासना में मग्न होना चाहता है, वह प्रभु को प्रिय कैसे हो सकता है? वह न इस घाट का है, न उस घाट का।

इस अध्याय के तीसरे और चौथे श्लोकों का पठन एक साथ होना चाहिए, क्योंकि ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इन श्लोकों में प्रभु कहते हैं कि निराकार उपासक भी मुझे प्रिय है। साकार और निराकार, दोनों समान हैं, केवल उपासना विधि में अन्तर है। साकार उपासक ईश्वर के एक मूर्त रूप को धारण कर, उस रूप को अपना लक्ष्य बनाकर, उस रूप में अपनी चेतना तथा भावना को केन्द्रित कर उसकी आराधना करते हैं। निराकार अमूर्त को स्वीकार करता है, जो कठिन है। इन दोनों में भेद नहीं है, दोनों ही परमात्म तत्त्व को प्राप्त कराते हैं।

इन श्लोकों में किसी भी मार्ग को प्रभु सर्वोत्तम नहीं कहते हैं। उन्होंने मनुष्यों को दो भागों में विभक्त कर दिया है, एक भाग में हैं साधारण मनुष्य और दूसरे में असाधारण मनुष्य। संसार के प्राय: सभी लोग साधारण श्रेणी में आते हैं। साधारण मनुष्य के लिए सहज मार्ग है साकार और असाधारण मनुष्यों का, जिनकी संख्या कम है, मार्ग है निराकार। दोनों में अन्तर मात्र इतना है कि साकार में एक रूप या एक प्रतिमा विशेष की उपासना की जाती है। निराकार उपासक सर्वत्र सम बुद्धि को धारण कर, सबके मंगल एवं हित के

लिए कल्याण भाव को धारण कर उपासना करते हैं। एक निराकारी उपासक भी मोक्षावस्था को प्राप्त करता है। निराकारी उपासक वही है, जो हम लोगों की समझ में एक असाधारण मनुष्य है और वही इस उपासना पद्धति की पूर्णता को अनुभव कर अपनी साधना को पूर्णता प्रदान कर सकता है।

यहाँ साधारण और असाधारण के बीच भेद किया गया है। क्यों? इसलिए कि हर मनुष्य अपनी मानसिक वृत्तियों तथा वासनाओं के वश में होता है। कामनाओं का दास होने के कारण उनकी सन्तुष्टि एवं पूर्ति के लिए कर्म करना पड़ता है। ईश्वरानुभूति की इच्छा व्यक्त करना उसी स्वार्थ पूर्ति के लिए है। वह आत्मसन्तुष्टि प्राप्ति की इच्छा का प्रतीक है कि मुझे कुछ अच्छी उपलब्धि होगी, यही भावना, स्वार्थ एवं कामना निहित है। जन-साधारण में अगर पूँजी इत्यादि की बात हो, तो कामनाधीन रहने के कारण हमारा मन उस ओर अधिक आकृष्ट होता है, खिंचता है। जहाँ कुछ ऐसे विषयों पर चर्चा हो, जिनसे हमारी कामना की पूर्ति तत्काल नहीं होती हो, तो उस ओर हमारा मन जाता ही नहीं एवं स्वयं को सन्तुष्ट करने हेतु अनेक बहाने गढ़ लेता है।

उक्त मानसिकता से प्रभावित मनुष्य निराकार मार्ग में आगे कैसे बढ़ेगा? अगर मनुष्य एक प्रतीक में, एक रूप में चित्त को केन्द्रित नहीं कर सकता, तो जो अव्यक्त, निराकार तथा अचिन्त्य है, उस निर्गुण अवस्था में मानव चित्त कैसे केन्द्रित हो पायेगा?

साकार उपासना का लक्ष्य भी होता है। उदाहरणार्थ–राम या कृष्ण बाह्य, भौतिक रूप से मनुष्य थे। उन्होंने शरीर धारण किया था तथा सभी प्रकार के कष्ट, सुख-दुःख, आनन्द और ऐश्वर्य का भोग भी किया था, लेकिन उनके कर्मों का रूप अलग था। उनके कर्म किसी उद्देश्य से प्रेरित थे। उद्देश्य चाहे जनहित की भावना हो या धर्म की स्थापना हो या एक आदर्श की स्थापना हो। आज मानव जाति कहती है कि उन्होंने जो कुछ किया, उसके पीछे एक सकारात्मक प्रयोजन था। उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते समय हमारे मन में एक भाव रहता है कि वे हमारे आदर्श हैं। उनके द्वारा इंगित मार्ग पर चलना है। हम उन्हें पूर्ण जाग्रत प्रतीक, ईश्वर या अवतार के रूप में देखते हैं। किसी एक रूप के प्रति श्रद्धा रखना, सम्मान व्यक्त करना, उनके द्वारा बतलाये गये मार्ग पर चलने का संकल्प लेना, उनके निर्देशों का मानसिक, भावनात्मक, बौद्धिक तथा व्यावहारिक रूप से पालन करना साकार उपासना के विभिन्न लक्ष्य हैं।

निराकार मूर्ति उपासना नहीं है तथा वैराग्य के बिना निराकार उपासना को साधना कहा भी नहीं जा सकता। वैराग्य के साथ जीवन में कुछ नियमों का पालन आवश्यक है, जिन्हें इन श्लोकों में ही समझाया गया है।

साकार में अधिक शर्तें या नियम नहीं हैं, लेकिन इतना सहज होते हुए भी वास्तविक रूप में कोई उसकी साधना नहीं करता है। साकार में भी आलस्य आ जाता है। जब साकार में ही आलस्य आ जाये, तो निराकार के उपासक की क्या दशा होगी?

आजकल अनेक लोग स्वयं को निराकारी साधक घोषित किये हुए हैं, जिनमें संन्यासी भी शामिल हैं। संन्यासियों की साधना है निराकार साधना। गुरु द्वारा स्पष्ट निर्देश मिलता है कि निराकार रूप प्रणव पर ध्यान करो। संन्यासी अपनी मर्जी से निराकार रूप प्रणव ध्यान में गुरु रूप को भी जोड़ देता है और कहता है कि मेरी साधना निराकार है तथा मैं गुरु पर ध्यान करता हूँ। जब गुरु ने निर्देश दिया कि तुम निराकार ध्यान करो, तो तुम क्यों चले गुरु पर ध्यान करने? इसमें कौन-सी बुद्धिमानी है?

जब इस अवस्था में स्पष्ट निर्देश के बावजूद हम अपने मन के विचार को प्राथमिकता देते हैं और एक निर्धारित मार्ग पर चलने में असमर्थता व्यक्त करते हैं, तो हम साधना के अधिकारी कैसे हो सकते हैं? हमारे गुरु कहते हैं कि तुम यह करो और हम वह नहीं करते, इस विचार से कि मैं गुरु का ध्यान करूँगा तो बड़ा साधक बन जाऊँगा। यह तो पाखण्ड है, ढोंग है। इस विषय पर हमने चिन्तन किया है। जब भी हम ध्यान के लिए बैठते हैं, तो गुरु जी की मूर्ति सामने आती है। क्या करें उस समय? मनुष्य की प्रवृत्ति और प्रकृति है एक आकार को खोजने की। बिना आकार के मन को आधार नहीं मिलता। इसी बिन्दु को गीता में स्पष्ट किया गया है कि जब तक वैराग्य की उत्पत्ति नहीं होती, तब तक मन को आधारहीन नहीं बनाया जा सकता।

जो निराकार में डुबकी लगाना चाहता है, उसे क्या करना पड़ेगा? *'अक्षरम्'*, जो अविनाशी सत्ता है तथा *'अनिर्देश्यम्'*, जो अवर्णनीय है, उसके प्रति सजग रहना पड़ेगा। अविनाशी उसको कहते हैं, जिसका नाश नहीं होता तथा अवर्णनीय उसको कहते हैं, जिसका वर्णन नहीं हो सकता। व्यावहारिक स्तर पर इन दो शब्दों का अर्थ यह है कि ईश्वरीय सत्ता अव्यक्त, कूटस्थ, रहस्यमय तथा अचल है। प्रकृति या शक्ति चलायमान है, लेकिन पुरुष अचल है, ध्रुव तथा स्थिर है, जो न व्यक्त है, जिसका न कोई प्रमाण

है, जिसके बारे में न कोई विचार है और जिसका न किसी प्रकार से वर्णन होता है।

मनुष्य के समक्ष पहचानने के साधन मात्र इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों को, चाहे कर्मेन्द्रिय हो या ज्ञानेन्द्रिय, तथा अन्त:करण को अनुभवों के लिए एक ठोस प्रमाण की आवश्यकता होती है। ठोस प्रमाणों को इन्द्रिय सीमाओं के अन्तर्गत ही खोजा जाता है, लेकिन जो इन्द्रियातीत है, उसका क्या प्रमाण है? कुछ प्रमाण नहीं, मात्र अनुभूति की अवस्था है। तीसरे और चौथे श्लोकों में उस अव्यक्त निराकार तत्त्व को अनुभवगम्य बनाने का एक सुलभ तरीका बतलाया गया है। *'संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धय:'* – तात्पर्य यह है कि अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखकर समभाव को धारण करो।

निराकार को अनुभव करने का एक तरीका है इन्द्रिय निग्रह। इस समय जो इन्द्रिय अनुभूति तुम्हें प्राप्त हो रही है, उदाहरणार्थ – शरीर एवं मन के प्रति सजगता, दृश्य जगत् का अनुभव, सम्पूर्ण सृष्टि का, मैं का अनुभव, इत्यादि सभी प्रकार के बुद्धिगम्य तथा इन्द्रियगम्य अनुभवों को जानकर इनसे सम्बद्ध विषयों में मन को नहीं भटकने दो। तब कहीं इन्द्रिय निग्रह की स्थिति प्राप्त होती है। मन के केन्द्रित होने से मनुष्य सम-भाव अवस्था को धारण करता है।

सम बुद्धि या सम-भाव है क्या? यह है राग और द्वेष रहित अवस्था। भेद बुद्धि में विषयों के प्रति आकर्षण है और इस आकर्षण के कारण मानव का स्व-संतुलन बिगड़ जाता है। जब मनुष्य राग-द्वेष रहित सम बुद्धि को धारण करता है, तब सभी भूतों के हित में चिन्तन करता है तथा सभी जीवों में ईश्वर का ही अनुभव करता है। जब मनुष्य में राग और द्वेष, आकर्षण और विकर्षण नहीं रहे, तब जिस आत्म-ज्योति को वह अपने भीतर अनुभव करता है, दूसरे प्राणियों के भीतर भी उसी ज्योति को देखता है। फिर उसके व्यवहार और कर्म अपने लिए भिन्न और दूसरों के लिए भिन्न नहीं रह जाते। जिस प्रकार के अच्छे कर्म मैं अपने लिए करता हूँ, वही दूसरों के लिए भी करता हूँ। इस अवस्था में अपने भीतर ब्रह्माण्डीय एकात्मकता की अनुभूति व्याप्त रहती है।

यह निराकार साधना पद्धति है, जिसे प्रभु ने तीसरे और चौथे श्लोकों में बतलाया है और इसी पद्धति के अनुसार मानव जीवन को ढालना है। प्रभु के निर्देशानुसार अपने जीवन को परिवर्तित करने वाला मनुष्य निराकार उपासक कहलाता है। यह साधना चेतना की उच्च अवस्था की प्रतीक है। इस अवस्था

में सभी प्रकार के विक्षेप और आकर्षण समाप्त हो चुके होते हैं। इसीलिए असाधारण मनुष्य ही इस दुर्गम मार्ग का अनुयायी हो सकता है।

यह सुनने के पश्चात् अर्जुन प्रभु से कहता है कि भले ही साकार मार्ग सरल हो और निराकार मार्ग कठिन, लेकिन दोनों उपासक आपको ही प्राप्त करते हैं; फिर भी, आप साकार को निराकार से अधिक मान्यता देते हैं, इसके पीछे अन्य कोई रहस्य है क्या?

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥5॥

अर्थ

श्रीभगवान् बोले–निराकार ब्रह्म की उपासना में लगे भक्तों की कठिनाई (साकार उपासकों की तुलना में) अपेक्षाकृत अधिक है। देहधारियों द्वारा अव्यक्त में पहुँचना, अर्थात् अव्यक्त को प्राप्त करना कष्टपूर्वक ही सम्भव है।

व्याख्या

प्रभु कहते हैं कि साकार परमात्मा की उपासना करने वाले अपनी प्रतिभा के अनुसार एक निर्धारित मार्ग का चयन करते हैं। साकार उपासक के मार्ग अनेक हैं, जैसे – गुरु या इष्ट पर ध्यान केन्द्रित करना, सेवा करना, भक्ति का अभ्यास करना अथवा समर्पण भाव को जाग्रत करना, आदि। साकार उपासक अपने लिए एक-न-एक मार्ग अपना लेते हैं। इनके विपरीत निराकारी साधकों का मार्ग अत्यन्त कठिन है तथा उन्हें अनेक कष्ट झेलने पड़ते हैं।

इस श्लोक का विचारणीय शब्द *'देहवद्भिः'* है और इसी के कारण निराकार के साधक को कठिनाई होती है। देहवद्भिः का तात्पर्य होता है देहाभिमान। देहाभिमानी के लिए अव्यक्त का अनुभव करना तथा अव्यक्त को प्राप्त करना कष्टप्रद है। निराकार के उपासक को पहले देहाभिमान त्यागना पड़ता है। जब साधक देहाभिमान त्यागता है, तब 'मैं शरीर नहीं हूँ', 'यह मेरा शरीर नहीं है' का आत्मभाव जाग्रत होता है। इस प्रकार के आत्मभाव में स्थित साधक ही ईश्वर को प्राप्त करता है। शरीर भाव को धारण कर साधक अव्यक्त की सीमा के भीतर प्रवेश नहीं पा सकता। जो

साधक शरीर भाव से युक्त होकर निराकार मार्ग में चलना चाहता है, उसके लिए यह पथ दुर्गम है।

संसार में जन्म लेते ही हमें एक रूप तथा नाम की प्राप्ति होती है। संसार के प्राणियों में रूप और नाम की तीन प्रमुख श्रेणियाँ हैं–मनुष्य, पशु और पक्षी। मनुष्यों, पशुओं एवं पक्षियों की भी अनेक श्रेणियाँ तथा उपश्रेणियाँ होती हैं। जितने अलग-अलग प्रकार के जीव समूह होते हैं, वे इन विभिन्न श्रेणियों के ही अन्तर भेद हैं। मनुष्य कहने पर अन्त:करण में मनुष्य का रूप ज्ञान उत्पन्न होता है। पशु कहने पर पशु का रूप ज्ञान उत्पन्न होता है और पक्षी कहने पर पक्षी का रूप ज्ञान उत्पन्न होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर के साथ जो रूप, नाम, विचार, गुण तथा अनुभव जुड़े हैं, उनको देह का, शरीर का अभिमान कहते हैं। मनुष्य के व्यक्त शरीर द्वारा अव्यक्त का अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता।

निराकार उपासना के लिए शरीर, जाति, वर्ण, सम्पत्ति और यश का अभिमान त्यागना आवश्यक है। प्रयास कर सम्पत्ति और यश के अभिमान का त्याग कर सकते हैं। थोड़े और कठिन प्रयास के पश्चात् जाति तथा वर्णाभिमान को भी त्याग सकते हैं, परन्तु सबसे कठिन है देहाभिमान का, *'देहवद्धि:'* का त्याग। देहाभिमान, जिसे जीव का देहाध्यास भी कहते हैं, मात्र इस जन्म से नहीं है, बल्कि अनेक जन्मों से है। जो अवस्था अनेक जन्मों से मानव अन्त:करण में अपनी पकड़ मजबूत करती आ रही है, उसे एक क्षण में, एक ही महीने में, एक ही वर्ष में या एक ही जीवन में कैसे हटाया जा सकता है? मनुष्य अपनी आदत छोड़ नहीं सकता, जैसे–पान, बीड़ी, सिगरेट या तम्बाखू खाने की आदत। इन्हें एक दिन छोड़ दें और देखें क्या होता है? सुस्ती, सिर में भारीपन, आलस्य, अन्यमनस्कता आदि की स्थिति आ जाती है। जब इतनी छोटी चीज को त्यागने में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ होती हैं, तो देहाभिमान का त्याग कैसे करें? कैसे छूटेगा यह देहाध्यास?

देहाध्यास के कारण ही निराकार उपासना कष्टप्रद होती है। सबसे बड़ी गलती यही है कि हम आदत, विचार और व्यवहार को परिवर्तित नहीं करते। एक बड़े नाले को तो लाँघ नहीं सकते और सीधा समुद्र लाँघने की इच्छा रखते हैं। बिना साकार सिद्ध किये निराकार को प्राप्त करना चाहते हैं, यह मानव का अहंकार है। यह उसके अभिमान का स्वरूप है। मनुष्य कमजोर रहते हुए भी

अपनी कमजोरी को छिपाता है। अभिमान के कारण स्वयं को आत्म-सम्मोहित कर लेता है।

साधना में पहला प्रयास देहाभिमान से मुक्त होने का रहता है। देहाभिमान का त्याग करने के पश्चात् एक ऐसी स्थिति आती है, जिसमें न शरीर का अनुभव होता है, न परिवेश और वातावरण का। जड़ भरत ने इस अवस्था का अनुभव किया था। लौकिक रूप से समाज उन्हें पागल कहता था, लेकिन अनुभवात्मक रूप से वे देहाध्यास की स्थिति को पार कर चुके थे। इस अवस्था को प्राप्त करने में जो समय लगता है, उसका अन्दाज आप खुद लगाइये। क्या आप वर्तमान परिस्थितियों के वशीभूत रह कर देहाभिमान से मुक्त हो सकते हैं? क्या आप जड़ भरत तुल्य अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं? इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए इसी जन्म के संचित कर्म एवं संस्कार पर्याप्त एवं समर्थ नहीं होते। संस्कार और कर्म तो जन्म-जन्मान्तरों में परिवर्तित होकर आत्म-शोधन की भूमिका तैयार करते हैं। जब यह स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब देहाभिमान का त्याग होता है।

मनुष्य जीवन की इन साधनात्मक प्रक्रियाओं को बाह्य बौद्धिक स्तर से अपनाता है, यथा – इन्द्रिय निग्रह करना, समबुद्धि धारण करना, सब प्राणियों के हित में कार्य करना, इत्यादि, लेकिन यह साधना बाह्य बौद्धिक प्रक्रिया नहीं है। यह एक आन्तरिक साधनात्मक विधि है, आन्तरिक शुद्धि की प्रक्रिया है। अनेक सामाजिक कार्यकर्ता *'सर्वभूतहितेरता:'* की भावना से जुड़े हैं। अनेक जाग्रत एवं सजग मनुष्यों ने इस संसार में समबुद्धि को धारण किया है, लेकिन देखा गया है कि ऐसे मनुष्यों में भी देहाभिमान रहता है। क्यों? उन्होंने साधना के अंतरंग पहलू को समझा नहीं है, आन्तरिक शुद्धि उन्हें मिली नहीं है। संस्कार शुद्ध हुए नहीं हैं और कर्म संयम प्राप्त हुआ नहीं है।

इसीलिए प्रभु कहते हैं कि देहाभिमान को त्यागना कठिन है। एक असाधारण मानव ही इस त्यागमय अवस्था का अनुभव प्राप्त कर सकता है। साधारण व्यक्ति को इस मार्ग में कष्ट ही झेलना पड़ता है, जो वह चाहता नहीं। इसीलिए मैं साधारण मनुष्य के लिए साकार मार्ग को ही उपयुक्त मानता हूँ।

अर्जुन पुन: शंका से ग्रस्त होकर अपनी भावना को प्रभु के समक्ष रखता है। वह कहता है कि निराकार उपासक सभी प्रकार के भोग्य पदार्थों का त्याग कर आपको प्राप्त करने हेतु साधनात्मक प्रयत्न करता है, अत्यन्त कठिनाइयों से गुजरकर वह आपको पाता है। ऐसा लगता है कि आपको प्राप्त करने में

साकार उपासक को और भी ज्यादा समय लगेगा, क्योंकि वह किसी भोग्य पदार्थ का त्याग नहीं करता, सामान्य जीवन व्यतीत करता है, सामान्य कर्म करता है, अपनी विक्षिप्त वृत्तियों को नियन्त्रित नहीं कर पाता है। जब साकार उपासक की अपनी कोई साधनात्मक भूमिका ही नहीं, तो वह आपको कैसे प्राप्त करेगा?

प्रभु इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि साकारोपासक भले ही संसार में कार्यरत एवं भोगरत रहे, लेकिन उसकी भावना तथा लक्ष्य में हमेशा मैं ही बसा रहता हूँ। निराकारी उपासक हर क्षण अपनी साधना का ही ख्याल रखता है। अपनी साधना को उत्तम बनाने में वह अधिक प्रयत्नशील रहता है। उसका अहम् किसी न किसी रूप में जीवित रहता है। वह हमेशा यह जानने का प्रयत्न करता है कि देहाभिमान दूर हुआ या नहीं, कितना बचा है, इत्यादि। जो व्यक्ति अपने साधनात्मक परिश्रम में विश्वास रखता है, उसे साधना की तात्कालिक परिस्थिति को छोड़कर कोई दूसरा ज्ञान नहीं होता। साकारोपासक सभी प्रकार के कर्मों का भोग करते हुए भी मुझे अपने में धारण किये रहता है, उसका अहम् मुझमें समर्पित रहता है, इसलिये मैं उसको आसानी से उपलब्ध हो जाता हूँ।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥6॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥7॥

अर्थ

श्रीभगवान् ने कहा – हे अर्जुन! मुझ में लीन जो भक्त सम्पूर्ण कर्मों को मुझे सौंपकर (अर्पण कर), मुझ साकार का ही एकाश्रयी योग द्वारा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, मुझमें चित्त लगाने वाले उन भक्तों का मैं मृत्युरूपी संसार सागर से उद्धार कर देता हूँ।

व्याख्या

उपर्युक्त श्लोकों में अनेक रहस्यमय विचारधारायें हैं। पहली विचारधारा के अनुसार, *'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः'* – सभी कर्मों को मुझे

समर्पित कर मेरे ही परायण होकर; *'अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते'*– अनन्य योग से मेरा ध्यान करते हुए जो भक्त मेरी उपासना करते हैं। यहाँ पर कर्म समर्पण का निर्देश दिया गया है। अगले मंत्र में कहते हैं, *'भवामि नचितरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम्'*– जो मुझमें चित्त लगा दे, उसका मैं मृत्यु रूपी संसार सागर से उद्धार करता हूँ। यहाँ पर चित्त की एकाग्र अवस्था की चर्चा हो रही है। इन श्लोकों को समझने के लिए पहले मन एवं चित्त को समझना आवश्यक है।

कर्म को अर्पित या समर्पित करना कैसे सम्भव है? साकार मार्ग को सरल बताया गया है, किन्तु एक साकार उपासक भी कठिनाई का सामना करता है। प्रत्येक प्राणी कर्म के अधीन जीता है, कर्म भोग प्राप्त करता है। कर्म तथा कर्मभोग को अर्पित करना, उनसे अपना कोई नाता न रखना बहुत कठिन है। कर्म अर्पित करने का जब निर्देश दिया जाता है, तो उस समय सामान्य विचारधारा के अनुसार हम लोग यह अर्थ लगाते हैं कि मैं जो कर्म कर रहा हूँ, उसके प्रेरक ईश्वर हैं और ईश्वर ही मुझे माध्यम बनाकर मुझ से सब करवा रहे हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर कहा जाता है– *नाहं कर्ता, हरिः कर्ता, हरिः कर्ता हि केवलम्*। पर यह विचारधारा या भाव मानसिक या बौद्धिक स्तर तक ही सीमित रहता है, जिसका आध्यात्मिक जगत् में कोई महत्त्व नहीं होता। इस भाव को रखकर भी हम कर्म से सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर पाते, तो यह हमारे खोखलेपन का सूचक है। यदि व्यक्ति कर्म भोग के साथ, कर्म के साथ अपने सभी सम्बन्धों को तोड़ दे, तब यह कहना यथार्थ होगा कि मैं कर्ता नहीं हूँ, प्रभु ही कर्ता हैं।

कर्मों का मतलब मात्र शारीरिक या भौतिक कर्म नहीं, केवल बाह्य नहीं, बल्कि स्थूल, सूक्ष्म एवं गूढ़ आन्तरिक कर्म भी हैं। प्रभु ने तो सभी कर्मों का निर्देश दिया है। कर्म तो प्राणी शरीर, बुद्धि, भावना, वाणी, मन इत्यादि इन्द्रियों से भी करता है और ये कर्म आसक्ति, राग-द्वेष से प्रभावित होते हैं। कर्म के अनेक रूप, जाति, उपजाति, प्रजातियाँ होती हैं। सभी प्रकार के कर्मों के प्रति सजग हो उन्हें समर्पित करने का निर्देश प्रभु ने दिया है और इस निर्देश का पालन करना बहुत कठिन है।

जब तक कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों से तथा उनकी विभिन्न अनुभूतियों से हमारा सम्बन्ध टूटता नहीं है, तब तक हम कर्मों को अनासक्त भाव से अर्पित नहीं कर सकते। कर्म से मुक्त होने के लिए प्रमाण की आवश्यकता

होती है, किसी प्रकार की कर्म पूर्ति का अनुभव करने के लिए प्रमाण अनिवार्य है। प्रमाण की आवश्यकता मनुष्य जीवन के हर स्तर में महसूस करता है। साधक जब साधना या ईश्वर चिन्तन करते हैं, तब उस अवस्था में प्राप्ति का अनुभव करने के लिए किसी एक प्रमाण की अपेक्षा भी रखते हैं। कोई ज्योति दर्शन चाहता है, कोई हलकेपन का अनुभव चाहता है। इस प्रकार साधक जिस अनुभव को खोजता है, वह मात्र प्राप्ति अवस्था का एक सूचक है, प्रमाण है। इस प्रमाण से यह ज्ञान होता है कि मैं यहाँ तक पहुँचा हूँ, मैंने इसका अनुभव किया।

प्रभु का निर्देश है कि कर्म तथा उनकी प्राप्ति तथा प्रमाण और उसके अनुभव से सम्बन्ध विच्छेद हो, ताकि समस्त कर्म, चाहे वे बाह्य हों या आन्तरिक, केवल इन्द्रिय अभिव्यक्ति का माध्यम बनें और कुछ नहीं। यह अनासक्त कर्म की अन्तिम परिणति है। जब तक कर्म केवल इन्द्रियाभिव्यक्ति के माध्यम नहीं बनते हैं, तब तक ये विभिन्न गुणों से प्रभावित होकर चेतना की चेतन, अवचेतन तथा अचेतन अवस्थाओं को भी प्रभावित करते हैं, जिसके कारण नये संस्कारों, वासनाओं एवं इच्छाओं का जन्म होता है।

श्लोक में अनन्य योग द्वारा उपासना करने की चर्चा होती है। अनन्य योग का तात्पर्य है चेतना की निर्लिप्त अवस्था का अनुभव होना, जो सभी प्रकार के कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त है। कर्मों को अर्पित करने का मतलब एक तरह से यह भी होता है कि अपनी शुद्ध चेतना, शुद्ध बुद्धि और शुद्ध मन ईश्वर को समर्पित करना। जब कर्म इन्द्रिय अभिव्यक्ति के माध्यम मात्र हो जाते हैं और चेतना की व्यापकता में किसी प्रकार के विकार उत्पन्न नहीं करते, तब उस समय चेतना विकार रहित, परिमार्जित, पवित्र और शुद्ध होती है। वही चेतना फिर ईश्वर को अर्पित की जाती है कि 'यह तुम्हारी है, तुम ले लो।'

कर्म तो हम करते हैं, पर कर्म में जागरूकता नहीं रहती, इस जागरूकता की प्राप्ति होने से हम जीवन को प्रभु प्रदत्त सम्पत्ति के रूप में मानने लगते हैं। इसी स्थिति को कहते हैं 'ब्रह्मार्पण'। मैंने स्वयं को ब्रह्म को अर्पित कर दिया। कर्म के प्रति जागरूकता साकार उपासना की उपलब्धि है, निराकार की नहीं। निराकार में कोई रूप नहीं, कोई गुण नहीं, केवल प्रयत्न की चेतना बनी रहती है। कर्म जागरूकता के द्वारा अन्त में कर्तृत्व भाव का भी त्याग होता है। अठारहवें अध्याय में प्रभु ने कहा है–

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥

अर्थात् जो अकल्याणकारक कर्म से द्वेष नहीं करता, कल्याणकारक कर्म में आसक्त नहीं होता, वह शुद्ध सत्त्व गुण से युक्त प्राणी संशय रहित ज्ञानवान् और त्यागी है। इस श्लोक में कर्तृत्व भावना के त्याग की शिक्षा झलकती है। कर्म तथा कर्तृत्व भाव के त्याग में स्वार्थ तथा बन्धन नहीं रहते। मैं जो कर रहा हूँ, वह ईश्वर को समर्पित है और बहुजन हिताय है। जब यह भावना जाग्रत एवं प्रबल हो जाती है, तब व्यक्ति कर्म बन्धन में नहीं पड़ता। कर्मों के साथ जीव का सम्बन्ध टूट जाता है और प्रभु स्मरण सतत् होने लगता है। वह सतत् स्मरण ही अन्य कर्मों को परिमार्जित करता है।

इतना समझने के पश्चात् अर्जुन के मन में पुनः शंका उत्पन्न होती है। वह कहता है कि अगर मैं भी साकार उपासक बनना चाहूँ, अपने कर्मों को अर्पित करना चाहूँ और कर्मों से अपने सम्बन्धों को तोड़ना चाहूँ, तो मुझे क्या करना पड़ेगा?

भगवान् कहते हैं *'मय्यावेशित चेतसाम्'*–मुझमें मन लगा दो। प्रभु में मन लगाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, इस वाक्य में चित्त की एकाग्रता का सन्देश दिया जा रहा है। यह सुनने के पश्चात् अर्जुन पूछता है कि आपमें मन को केन्द्रित करने की कोई प्रक्रिया अवश्य होगी, वह प्रक्रिया क्या है? आप बैठें और मैं आप को देखूँ या आपके बारे में चिन्तन करूँ? क्या यह आप में मन लगाना होगा? मैं अपने मन को आपमें कैसे केन्द्रित करूँ, कैसे आगे बढ़ूँ, यह विधि मुझे बताइये।

प्रभु कहते हैं– "मैं तुम्हें कर्म और कर्तृत्व की भावना के विषय में बतला चुका हूँ। तुम जो भी कर्म करते हो, करते समय यह सोचो कि मेरे लिए कर रहे हो। इस प्रकार तुम्हारे मन में भक्ति और समर्पण के भाव विकसित होंगे। जो व्यक्ति भक्ति तथा समर्पण भाव से प्रेरित होकर स्वधर्म और कर्तव्य से विमुख नहीं होता और जीवन के स्वाभाविक एवं सामान्य कर्म करता है, वह मुझमें अपने मन को केन्द्रित करने की राह पर चल पड़ता है। मुझे प्राप्त करने की दिशा में यही पहला कदम है।"

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥8॥

अर्थ

श्रीभगवान् ने कहा – मुझमें ही मन तथा बुद्धि लगाओ। ऐसा करने से तुम मुझमें मिलकर एकाकार हो जाओगे। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

व्याख्या

पूर्व के मन्त्रों में प्रभु ने सर्व कर्म अर्पण एवं मय्यावेशित चेतसाम् के विषय में निर्देश दिये हैं। इस मन्त्र में मन और बुद्धि निवेश का निर्देश देते हैं। मन और बुद्धि, दोनों को मुझमें लगा दो। कर्म को समर्पित करने के विषय में पहले ही निर्देश दिया गया है। अब कर्म के साथ-साथ अपने मन और बुद्धि को भी मुझे अर्पित करो, मुझमें स्थापित कर दो। इसके बाद *'निवसिष्यसि मय्येव'*, मुझमें ही समाहित होकर तुम मुझमें ही निवास करोगे। इसमें कोई संशय नहीं है।

प्रभु का निर्देश है कि अपनी चित्तवृत्तियों को भली-भाँति समझकर, उन्हें एकाग्र कर स्वयं को मुझमें स्थिर कर दो। मेरे अतिरिक्त, अर्थात् ईश्वर प्रणिधान के अतिरिक्त किसी अन्य विषय का चिन्तन मत करो। ईश्वर प्रणिधान की स्थिति मन, बुद्धि, भावना, कर्म आदि समस्त अवस्थाओं में समान रूप से अनुभूति की स्थिति होती है। अगर कर्म समर्पण को या भावनात्मक एकाग्रता को ईश्वर प्रणिधान माने और शेष अवस्थाओं में वह स्थिति न हो, तो ईश्वर प्रणिधान कैसा? इसलिए कर्मों के साथ-साथ मन और बुद्धि को भी ईश्वर को अर्पित करना है ताकि ईश्वर प्रणिधान की परम अवस्था को जीवन में अवतरित किया जा सके।

प्रत्येक प्राणी भली-भाँति यह समझता है कि जब कोई वस्तु प्राप्य समझी जाती है, तब उसकी ओर या उसे पाने हेतु मनुष्य आकृष्ट होता है, पर जो अप्राप्य है, उसमें आकर्षण नहीं होता। मन और बुद्धि को ईश्वर में लगाने का तात्पर्य ईश्वर को प्राप्य समझना है, ताकि इन्द्रियों का आकर्षण ईश्वर की ओर हो और मनुष्य उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहे।

पूर्व में कहा गया है कि भक्ति भाव को धारण कर स्वधर्मरूपी कर्म करो, तथा कर्तृत्व भावना का त्याग करो। अगर मन इतने सब के बाद भी ईश्वर में केन्द्रित नहीं होता, तब प्रयास करना है कि मन और बुद्धि, विचार और धारणा सभी ईश्वर में रम जायें। जब मन और बुद्धि को किसी एक वस्तु, पदार्थ, विचार या धारणा में हम लगा देते हैं, तब वह ध्येय बिन्दु मानसपटल पर धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगता है। उसकी धारणा सहज हो जाती है और

उस ध्येय बिन्दु की प्राप्ति सम्भव हो जाती है। इसीलिए पहले हमने कहा कि जिसे हम प्राप्य समझते हैं, वह हमारे लिए आकर्षण का एक केन्द्र बन जाता है, तदनुसार कर्म प्रयास भी होते हैं। अगर हमारे मन में यह धारणा प्रबल हो जाये कि प्रभु को प्राप्त करना सम्भव है, तब स्वत: हम उनकी ओर खिंचते चले जायेंगे। अगर पहले से ही यह निश्चय हो जाये कि ईश्वरानुभूति सम्भव नहीं है, तो हमारा ध्यान उस ओर जायेगा ही नहीं।

दूसरे प्रकार से भी इस बिन्दु को समझाया जा सकता है कि अपने मन और बुद्धि, दोनों को अपने इष्ट के लिए संकल्पित कर दो। एक बार जब मन और बुद्धि संकल्पित हो जाते हैं, तब उनकी क्षमता एवं प्रतिभा पर किसी प्रकार का व्यक्तिगत अधिकार नहीं रहता। फिर वे एक न्यास के रूप में हमारे पास हैं। यह समझ लो कि अगर अपने मन और बुद्धि को इन्द्रियभोग या तर्क-वितर्क तक ही तुम सीमित रखते हो, तो तुम्हारे भीतर द्वन्द्वात्मक स्थिति उत्पन्न होती रहेगी, जैसा आज तक होता आया है, और तुम्हारा लक्ष्य, विचार तथा कर्म कभी स्पष्ट नहीं हो पायेंगे।

मन, बुद्धि और कर्म का एक अटूट सम्बन्ध है। इन तीनों का सम्बन्ध स्विच, तार और बल्ब के सम्बन्ध जैसा है। कर्म बल्ब है, जो प्रकाशित होता है। बुद्धि स्विच है, जिसको हम ऑन-ऑफ कर सकते हैं, तथा जिसके द्वारा विवेक और ज्ञान प्राप्त कर स्वयं को अविद्या के अन्धकार से मुक्त कर सकते हैं। मन या चिन्तन प्रणाली तार है, जो स्विच एवं बल्ब को एक-दूसरे से जोड़ता है। मन, बुद्धि और कर्म को जोड़ने पर उनके भीतर जब विद्युत तरंग प्रवाहित होती है, तब कर्म प्रकाशित हो उठते हैं। विद्युत तरंग के प्रवाहित होने का अर्थ है ईश्वरीय शक्ति का संचरण। मन और बुद्धि में ईश्वरीय शक्ति का संचरण होने पर कर्म परिमार्जित एवं प्रकाशित हो जाते हैं और कर्तृत्व की भावना के बन्धन से जीव को मुक्ति मिलती है।

भारतीय मनीषियों ने जीवन को इस संसार सागर में एक नौका के रूप में देखा है, जिसकी दो पतवारें हैं मन एवं बुद्धि। जन्म से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य जीवन को इन दो पतवारों के माध्यम से खेता है। यह तो सामान्य बात हुई। आध्यात्मिक जगत् में समर्पण के दौरान जीव अपनी पतवारों को ईश्वर को सौंप देता है, ताकि ईश्वर ही जीवनरूपी नैया को आगे ले जाए। *'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय'* का भाव भी यही है कि मन और बुद्धि की बागडोर या पतवार ईश्वर को सौंप दें। उसके पश्चात् 'अब तो दी है नैया नदी

में बहा, जा लगी जिस किनारे चले जायेंगे'– इस भावना को अपने जीवन में अवतरित करें। पूर्ण रूप से अगर अपनी बौद्धिक तथा मानसिक क्षमता को समर्पित कर दें, तो अहंकार का समर्पण होता है, बात बन जाती है। यही साकार की विशेषता है। साकार में अगर एक क्षमता को भी समर्पित कर दें, तो बेड़ा पार होता है। अगर दो को अर्पित करें, तब भी बेड़ा पार और यदि सब कुछ अर्पित कर दें, फिर तो कोई संशय ही नहीं। निराकार में प्रयत्न और पुरुषार्थ अधिक है, साकार में केवल समर्पण। पुरुषार्थ के साथ अहंकार रहता ही है, पर समर्पण में वह विगलित होता जाता है।

अर्पण करने के लिए अपने भीतर सामर्थ्य और शक्ति होनी आवश्यक है। मात्र यह सोचना कि मैं तुम्हें अर्पित करता हूँ, अर्पण की व्याख्या नहीं है। तुम्हें अपना सर्वस्व दे देता हूँ, कह देना मात्र भक्ति की व्याख्या नहीं होती। जब तक समान भाव को जाग्रत नहीं किया जाता, उस प्रकार के कर्म नहीं किये जाते, मानसिकता में उस प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, तब तक यह धारणा मात्र बौद्धिक रहती है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए भक्ति और कर्म का ठोस आधार होना आवश्यक है। भक्ति और कर्म दो व्रत या दो संकल्प होते हैं। जो इन्हें अपने जीवन में प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करता है, वह सिद्ध कहलाता है। जो इनके विषय में बौद्धिक रूप से चिन्तन करता है, वह सिद्ध नहीं, जिज्ञासु भर है। उसके जीवन में परिणति शेष रहती है। विक्षेपों का सामना उससे नहीं हो पाता है, जिसके कारण मन चञ्चल हो उठता है।

एक बार हमने अपने गुरुजी, परमहंस सत्यानन्दजी से पूछा था कि साधना में विक्षेप के कारण चञ्चल मानसिक अवस्था को शान्त करने के लिए क्या किया जा सकता है। उत्तर में गुरुजी ने कहा था – "अन्तर्मन में जब तक स्वार्थ पूर्ति की भावना है, तब तक विक्षेप उत्पन्न होंगे। आत्मसंतुष्टि के लिए कर्म करने से विक्षेपों का निराकरण नहीं होता है। जब तुम कर्म और भक्ति, दोनों को एक-दूसरे में देखोगे तभी ऐसी अवस्था को प्राप्त करोगे, जहाँ पर किसी प्रकार का द्वन्द्व और विक्षेप नहीं होता है। ध्यान में समर्पण और भक्ति का अनुभव होने पर, उसे ही ध्यान की अंतिम अवस्था मत मानो। अगर बीच साधना में कोई तुम्हें उठाकर कहे कि तुम्हें झाड़ू लगाना है, तो उस कर्म को भक्ति का एक व्रत मान कर करो, तभी तुम्हारा जीवन संतुलित हो पायेगा।"

भक्ति और कर्म दो व्रत हैं। कर्म के द्वारा संसार के मिथ्यात्व का अनुभव होता है और भक्ति में संसार के ब्रह्मत्व और सनातनता का आभास होता है। इस संसार के दो रूप होते हैं। एक मिथ्या रूप और दूसरा सनातन सत्य रूप। अगर कोई कहे कि ये दोनों रूप अलग हैं और हमको एक मार्ग में चलना है, तो यह गलत विचारधारा मानी जायेगी। संसार का मिथ्या रूप और ब्रह्म रूप आपस में वैसे ही घुले-मिले हैं, जैसे भूसी तथा चावल। चावल को निकालने के लिए भूसी को हटाना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार जीवन में ब्रह्मत्व का अनुभव करने के लिए मिथ्यात्व को हटाना पड़ता है। यह तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने जीवन में कर्म और भक्ति को बौद्धिक रूप से नहीं, बल्कि संकल्प रूप में, जीवन पद्धति के रूप में ग्रहण करे।

इसीलिए प्रभु कहते हैं कि तुम अपने मन को अपना मत कहो, मुझे अर्पित कर दो और लोकहित की भावना से अपना कार्य करते जाओ। सीधी बात तो यह है कि हमारा शरीर, मन, इन्द्रियाँ आदि उन्हीं की धरोहर हैं, अत: उन्हें ही सौंप दो।

प्रश्न उठता है कि इन्हें कैसे सौंपें। इसके लिए तो जीवन में कोई कार्यक्रम बनाना पड़ेगा, एक सिद्धान्त, एक मानसिकता तथा एक मार्ग अपनाना पड़ेगा। जब तक जीवन में ऐसा कार्यक्रम नहीं बनता, तब तक चाहे साकार हो या निराकार, भौतिकता हो या आध्यात्मिकता मनुष्य अपने लक्ष्य की ओर बढ़ नहीं पायेगा।

यह सुनकर अर्जुन प्रभु से निवेदन करता है कि मन की चञ्चलता और उसको स्थिर करने की दुष्करता के विषय में मैं पहले ही आपको पिछले दस अध्यायों में कह चुका हूँ। अब भी आप से बार-बार कह रहा हूँ कि मन चञ्चल है, स्थिर नहीं हो पाता और आप हर बार चञ्चल मन को स्थिर करने का आदेश देते हैं। कैसे हो यह दुष्कर कार्य? प्रभु मुस्कुराते हुए कहते हैं कि मैं तो अच्छी तरह समझ रहा हूँ कि मानसिक चञ्चलता को स्थिर करना कठिन कार्य है। इसके लिए ही बार-बार तुमको उपाय भी बतला रहा हूँ और कह रहा हूँ कि मन को स्थिर करो। इसे स्थिर किये बिना किसी प्रकार की प्राप्ति सम्भव नहीं है। वैसे एक और तरीका तुमको बतला देता हूँ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥9॥

अर्थ

श्रीभगवान् ने कहा – (पूर्व श्लोक में बताये गये उपाय द्वारा) अपने चित्त को मुझमें अचल रूप से स्थापित करने में अगर समर्थ नहीं हो, तो हे अर्जुन! मेरे नाम एवं गुणों के कीर्तन, मनन, जप आदि के अभ्यास योग द्वारा मुझे प्राप्त करने की चेष्टा करो।

व्याख्या

पूर्व के श्लोकों में प्रभु ने कहा है कि अपने मन और बुद्धि को मुझमें लगा दो। इस श्लोक में वे कहते हैं कि अभ्यास योग द्वारा मुझे प्राप्त करने की चेष्टा करो। प्रभु ने अर्जुन को धनञ्जय के नाम से सम्बोधित किया है तथा कहते हैं कि अभ्यास के द्वारा अपने चित्त को चारों ओर से बार-बार खींचकर मुझमें लगाने का सतत् प्रयत्न करते जाओ। धनञ्जय शब्द से ही इस श्लोक की व्याख्या होती है। धनञ्जय का अर्थ है, धन का अर्जन करने वाला, धन को जीत कर लाने वाला। अर्जुन ने चार बार दिग्विजय की थी। चार बार सभी राजाओं को जीतकर उनके यहाँ से सम्पत्ति लाकर राजकोष को भर दिया था। जब वह दिग्विजय के लिए निकलता था, तब उसे युद्ध करना पड़ता था। यदि वह युद्ध की शिक्षा प्राप्त नहीं करता, तो क्या दिग्विजय प्राप्त कर सकता था? नहीं।

इस श्लोक में एक प्रकार से व्यंग्य करते हुए प्रभु कहते हैं कि धनञ्जय तुम हो ही और इस नाम से सम्बोधित होने का अधिकार भी तुमने प्राप्त किया है, लेकिन यह अधिकार तुमने कैसे प्राप्त किया है, इसको पहले समझ लो। अगर तुम गुरु द्रोणाचार्य के पास नहीं जाते, उनसे धनुर्विद्या नहीं सीखते, अगर तुम कठिन अभ्यास नहीं करते, अगर तुम्हारे भीतर दृढ़ संकल्प उत्पन्न नहीं होता कि मैं सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर बनूँ, तो दिग्विजय नहीं कर सकते थे। यहाँ तक पहुँचने के लिए तुमने क्या-क्या किया? तुमने बार-बार अभ्यास किया है कि नहीं? गुरुकुल में क्या किया? निरंतर अभ्यास किया अस्त्र-शस्त्र चलाने का। दिन के समय किया, रात के समय किया, अन्धकार में किया, प्रकाश के समय किया, शब्दवेधी बाण चलाया और लक्ष्य देखकर उस पर बाण चलाया। आदमी एक दिन में तो तुम जैसा योद्धा नहीं बन सकता।

अर्जुन को कहा जा रहा है कि वह जिस अवस्था में आज पहुँचा है, उसके पीछे उसका अनवरत अभ्यास रहा है। जिस प्रकार से अभ्यास के द्वारा

प्रवीणता प्राप्त कर वह इतना सब अर्जित कर सका, राजकोष संग्रह किया, ठीक उसी प्रकार इस मार्ग में भी उसको बार-बार अभ्यास के द्वारा प्रवीणता प्राप्त करनी है। बिना प्रवीणता प्राप्त किये वह धनञ्जय कहलाने का अधिकारी नहीं होता। इसी प्रकार बिना प्रवीणता प्राप्त किये कोई मुझे भी प्राप्त करने का अधिकारी कैसे हो सकता है?

अभ्यास का मतलब होता है, बार-बार करना। केवल इच्छा से आदमी किसी कार्य को नहीं साध सकता, अभ्यास आवश्यक है। योग सूत्रों में कहा गया है –

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः ॥

जो साधना दीर्घकाल तक निरन्तर की जाये, जिसके प्रति श्रद्धा एवं निष्ठा रहे तथा जिससे मन की प्रवीणता में वृद्धि हो, वह है अभ्यास। व्यक्ति अपनी क्षमता की सीमा के भीतर अभ्यास करने में सक्षम होता है, परन्तु उससे ज्यादा नहीं कर पाता।

अभ्यास के दो रूप होते हैं। एक होता है कल्याणकारी और दूसरा होता है अकल्याणकारी। चोरी करना भी तो अभ्यास से सिद्ध होता है। जुए में अभ्यास से ही प्रवीणता प्राप्त होती है। ये सभी हो जाते हैं अकल्याणकारी कर्म। कल्याणकारी कर्म की परिभाषा अगर भक्ति के सन्दर्भ में सोचें, तब श्रवण, मनन, भजन, कीर्तन एवं सत्संग की पद्धति, जिससे मन परिवर्तन, चेतना परिवर्तन होता है, कल्याणकारी कर्म होंगे। इसी प्रकार निःस्वार्थ कर्म, सेवा, स्वाध्याय, इत्यादि सत्कर्मों की श्रेणी में आते हैं। परन्तु केवल अभ्यास अकेला पर्याप्त नहीं है। इसके साथ वैराग्य का जुड़ना भी आवश्यक है। अगर अभ्यास से प्रवीणता लानी है, तो पहले निष्पक्षता को भी प्राप्त करना आवश्यक है। निष्पक्षता को पाने के लिए रागरहित, आसक्तिरहित होना आवश्यक है। योग सूत्रों में भी कहा गया है –

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥

अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा ही मन का निरोध करना है, मन की चञ्चलता को रोकना है, मन को स्थिर करना है।

प्रभु निर्देश देते हैं, *'अथ चित्तं समाधातुम्'* – अपने चित्त को अचल रूप से स्थापित करने के लिए, चित्त के प्रवाह को, चित्त की गति को रोकने के

लिए। नदी के प्रवाह को रोकने के लिए बाँध बनाना होता है। ठीक वही पद्धति यहाँ लागू होती है। मन की चञ्चलता को रोकने के लिए एक बाँध का होना आवश्यक है और यह बाँध बनता है अभ्यास और वैराग्य के द्वारा। यह बाँध न हो तो पानी बहता जायेगा। मन चञ्चल बना रहेगा। प्रभु कहते हैं कि अभ्यास करते समय मन को सब तरफ से समेट लेना। जब हम मन को सभी तरफ से समेट लेते हैं और अभ्यास में एकचित्त कर देते हैं, तो एकाग्रता की वह स्थिति प्रत्याहार की स्थिति होती है। इस अवस्था में जब विषयाकर्षण नहीं रहता, तब वह वैराग्य की स्थिति है, रागरहित अवस्था है। जब रागरहित अवस्था की प्राप्ति होती है, तभी अभ्यास भी सफल हो पाता है।

अभ्यास के साथ योग को जोड़ा गया है। अभ्यास शब्द में योग शब्द जोड़ने का तात्पर्य होता है, ईश्वर परायण अभ्यास। अत: अभ्यास को ईश्वराभिमुख होना है और उस लक्ष्य को सामने रखकर यह क्रिया प्रारम्भ होती है। अभ्यास में योग के लक्ष्य को जोड़ने से वह हो जाता है सजगता का अभ्यास। ईश्वराभिमुख होकर अभ्यास में स्वयं को स्थिर करने की प्रक्रिया में सजगता का अभ्यास होता है। इस श्लोक में प्रभु ने अभ्यास योग शब्द का प्रयोग किया है, उसका तात्पर्य यही है – सजगतापूर्ण अभ्यास। सजगता के बिना तुम अभ्यास मार्ग में सफल नहीं हो पाओगे। अभ्यास के साथ जब वैराग्य और सजगता भी जुड़ जाती है तब साधक का मार्ग सुगम हो जाता है। सजगता जुड़ती है योग के सन्दर्भ में और वैराग्य जुड़ता है अभ्यास को उत्तम श्रेणी का बनाने के लिए।

स्वयं को केन्द्रित एवं स्थिर करने के लिए जब प्रयास होता है, तब उस समय मन से तथा मानसिक आदतों से मुक्त होना आवश्यक हो जाता है। जहाँ पर राग है, वहाँ पर आदत होगी। जहाँ आसक्ति है, विषयों के प्रति आकर्षण है, वहाँ राग-द्वेष की उत्पत्ति होगी। यह तो मन का स्वाभाविक रूप है, प्रकृति है, और इसे छुड़ाने के लिए वैराग्य आवश्यक होता है। कभी-कभी किसी आदत को छुड़ाने के लिए हठ भी करना पड़ता है। एक गाय का बछड़ा है, वह दूध पीने के लिए हमेशा अपनी माँ के पास जाता है। एक समय तक तो ठीक है, जब तक उसे दूध की आवश्यकता है, हम उसे पीने ही देते हैं। परन्तु जैसे-जैसे वह बछड़ा बड़ा होता है, उसको वह आदत धीरे-धीरे छोड़नी पड़ती है। कुछ समय पश्चात् उसे बाँधकर रखना पड़ता है। फिर धीरे-धीरे आदत छूट जाती है, वह अनुकूलन समाप्त हो जाता है। फिर छ: महीने के बाद वह अपनी माँ के पास दूध पीने नहीं जाता।

कुछ समय पूर्व छोटे बच्चों को माँ का दूध पीने की आदत छुड़ाने के लिए माँ अपने स्तनों में कड़वी चीजें लगा लेती थी, जिससे कि बालक के मुँह में कडुवाहट उत्पन्न हो और वह गाय के दूध या अन्य खाद्य वस्तुओं की ओर आकृष्ट हो। अत: एक प्रकार की आदत विशेष को छुड़ाने के लिए कभी-कभी कडुवाहट की भी आवश्यकता होती है। इसीलिए किसी आदत को छुड़ाने के लिए, किसी राग को हटाने के लिए जीवन में भी एक प्रकार की कडुवाहट उत्पन्न करना आवश्यक हो जाता है ताकि मन उस तरफ से हट जाए। हर व्यक्ति को यह तरीका अपने लिए खोजना पड़ता है। इसका कोई एक निश्चित मार्ग या निश्चित प्रक्रिया नहीं है। गुरु यह जान कर कि साधक के भीतर कितनी प्रवृत्तियाँ हैं, कैसे संस्कार हैं, उसके जीवन में सकारात्मक कडुवाहट की स्थिति उत्पन्न कर सकता है, जिससे साधक स्वाभाविक रूप से एक आकर्षण के विषय से दूर हो जाये।

वैराग्य अनुभव का दूसरा सरल तरीका है, भक्ति का अभ्यास। ईश्वराभिमुख होना या ईश्वर चिन्तन करना। अभ्यास के दौरान ईश्वर चिन्तन होना चाहिए। परमहंस सत्यानन्दजी बतलाते थे कि किसी भी परिस्थिति में मन को एक आधार की आवश्यकता होती है, जहाँ जाकर वह आश्रय ले। वे कहते थे कि ध्यान करते-करते जब व्यक्ति अचेतन अवस्था को प्राप्त करता है, या अवचेतन की गहराई में प्रवेश करता है, तब उस समय वह शरीर को भूलने लगता है, मन, इच्छाओं, विचारों और भावनाओं को भूलने लगता है तथा एक शून्य की स्थिति प्राप्त करता है। वहाँ अगर उसे कोई आधार नहीं मिले, तब लौटना बहुत कठिन मालूम पड़ता है। मान लो समुद्र में लकड़ी का एक टुकड़ा बह रहा है। कहीं से उड़ती हुई एक चिड़िया आकर उस पर बैठ जाती है और कुछ देर तक विश्राम करती है। विश्राम करने के पश्चात् वह फिर उड़ती है जमीन की खोज में, लेकिन चारों तरफ सागर ही सागर है। उड़ते-उड़ते जब वह थक जाती है, तो विश्राम करने के लिए फिर उसी लकड़ी के टुकड़े पर आती है। इस तरह यह क्रम चलता रहता है। जिस प्रकार से लकड़ी का छोटा टुकड़ा चिड़िया के विश्राम के लिए आधार बन जाता है, ठीक उसी प्रकार से मन के लिए भी एक आधार का होना अति आवश्यक है। आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने के लिए आधार की नितान्त आवश्यकता है। इस आधार की प्राप्ति सम्भव है अभ्यास, वैराग्य तथा सजगता के द्वारा।

प्रभु के इतना बतलाने पर अर्जुन कहता है कि प्रभु आप तो बहुत सरल तरीका बतला रहे हैं, किन्तु अपने चित्त की चञ्चलता को देखते हुए मैं यह नहीं कह सकता कि मैं इस मार्ग में भी सफल हो पाऊँगा या नहीं। उसके कहने का तात्पर्य यह है कि अगर चित्त चञ्चल है, तो अभ्यास को सिद्ध करना दुष्कर है। इस पर भगवान् कहते हैं कि अर्जुन आज तुमको क्या हो गया है। बार-बार कहते हो कि यह कठिन है, वह कठिन है। जब तुम चिड़िया की आँख में बाण मार रहे थे, उस समय अपने मन को एकाग्र कर लिया था एक छोटी आँख पर। जब द्रौपदी के स्वयंवर में तुम मछली की आँख में तीर मार रहे थे, तब उस समय भी तुमने स्वयं अपने मन को केन्द्रित कर लिया था। जब तुमको कुछ प्राप्त करना होता है, तब तुम कर ही लेते हो। जहाँ पर तुम्हारी कामना की पूर्ति होती है, जहाँ पर तुम्हारे अहंकार की तुष्टि होती है, वहाँ तो तुम येन-केन-प्रकारेण मन को स्थिर कर ही लेते हो। गुरु द्रोणाचार्य को कह भी देते हो कि मुझे न मेरे भाई दिखलायी देते हैं, न वृक्ष, न पत्ते, न चिड़िया, केवल चिड़िया की आँख दिखलायी देती है। जब तुम्हारे भीतर यह क्षमता है, तब आज बार-बार ये उलटे-सीधे प्रश्न क्यों किये जा रहे हो? इस पर अर्जुन घबराकर चुप और निराश हो जाता है कि भगवान् शायद नाराज हो गये। भगवान् भी देखते हैं कि अर्जुन फिर से विषाद-अवसाद में पड़ गया है, तब वे पुनः कहते हैं कि हे अर्जुन, फिर भी एक तरीका है।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥10॥

अर्थ

श्रीभगवान् ने कहा कि अगर पूर्व श्लोक में बताए गये उपाय, अर्थात् अभ्यास करने में भी असमर्थ हो, तो मेरे लिए ही कर्म करने में लीन रहो। मेरे लिए कर्म करते हुए भी तुम सिद्धि प्राप्त कर लोगे, अर्थात् मुझे पाने में सफल हो जाओगे।

व्याख्या

प्रभु कहते हैं कि अगर पूर्व में बताये गये उपाय, अर्थात् अभ्यास करने में असमर्थ हो, तो मेरे लिए कर्म करने हेतु मेरे परायण, अनुरक्त हो जाओ। इस

श्लोक में *'मत्कर्मपरमोभव'* ही मूल मन्त्र है। इसका अर्थ है कि केवल मेरे लिए कर्म करने में परायण हो जाओ।

इसके पहले प्रभु ने कहा था कि तुम मुझमें अपने मन को लगाओ, ध्यान करो। मन और बुद्धि को लगाना, एक चित्त करना, ध्यान की स्थिति है। यदि वह भी कठिन लगे, तो प्रभु कहते हैं कि धीरे-धीरे अभ्यास करो। जब अभ्यास में भी अर्जुन असमर्थतता प्रकट करता है, तब इस श्लोक में प्रभु कहते हैं कि जो कुछ करते हो, वह सब मुझको अर्पित कर दो। अगर तुमसे अभ्यास योग की साधना भी नहीं हो सकती, तो एकमात्र मेरे लिए ही कर्म करने वाला होकर अपने शरीर, मन और वाणी से जो भी कर्म करते हो, वह सब मेरे लिए ही करते जाओ और मुझमें ही स्वयं को अनुरक्त कर दो, लीन कर दो, एकचित्त कर दो।

यहाँ पर एक विशेषता दिखलायी देती है, वह है प्रभु की दयालुता। हर प्रकार के निर्देश के पश्चात् भी साधक बार-बार कहे कि इससे भी सरल तरीका बतलाओ, तो निर्देश देने वाले को गुस्सा आ सकता है। वह कहेगा कि कैसा नासमझ है यह आदमी। जब कुछ करने के लिए बतलाता हूँ, तो कहता है कि इससे भी सरल तरीका बतलाओ। लेकिन भगवान् का जो परम प्रभुत्व है, उसमें उनकी दयालुता निहित है। उनकी करुणा है। वे भक्त के मन में उत्पन्न किसी भी कठिनाई की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। वे सबका समाधान और विकल्प देते हैं।

प्रभु भी दो प्रकार के होते हैं, सामान्य प्रभु और परम प्रभु। सामान्य प्रभु–एक कर्मचारी अपने मालिक को प्रभु कहता है। वह मालिक हमारी गलती पर दण्ड दे सकता है, या अच्छा काम करने पर इनाम दे सकता है, रक्षा कर सकता है। सामान्य प्रभुओं से तो दुनिया भरी पड़ी है। लेकिन परम प्रभु एक ही हैं, और वह हैं ईश्वर। उनकी जो दया है, करुणा का जो भाव है, वह उनके सभी कर्मों, आचरणों और व्यवहारों में दिखलायी देता है।

भगवान् कहते हैं कि जिसके पास अभ्यास का सामर्थ्य हो, वह धीरे-धीरे अभ्यास करता जाये, तो उसी में उसको प्राप्ति होगी। आजकल प्राय: लोग अभ्यास करने में असमर्थतता दिखाते हैं। कहते हैं कि मुझे इतना काम करना पड़ता है कि अभ्यास करने के लिए समय ही नहीं मिलता। इस परिस्थिति के लिए प्रभु का निर्देश है कि वही कार्य करते जाओ, लेकिन यह सोचकर कि वह कार्य तुम मेरे लिए कर रहे हो। प्रभु किसी पर हँसते नहीं, और न ही चिढ़ते

हैं, यही उनकी विशेषता है, क्योंकि वे करुणासागर हैं। एक उपाय बतलाते हैं, अगर वह नहीं हो सके, तो दूसरा, अगर वह भी नहीं हो सके, तो तीसरा। अनन्त उपाय बतला देते हैं, पर भक्त को छोड़ते नहीं हैं।

प्रभु ने ईश्वराभिमुख होकर कर्म करने का निर्देश दिया है। कर्म तो हर व्यक्ति करता है, पर कर्म करते समय उसमें मनुष्य का स्वार्थ जुड़ा रहता है। प्रभु का कहना है कि कर्म करते समय आत्मान्वेषण होना चाहिए तथा इसके लिए उनका निर्देश है – *'मत्कर्मपरमोभव'*। जब कर्म के पीछे आत्मान्वेषण का भाव जुड़ जाता है, तब आन्तरिक विकार, अहंकार धीरे-धीरे दूर होने लगते हैं। वे कहते हैं कि जो कर्म करते हो, वह सब मेरे लिए ही करते हो, ऐसा समझ कर करो। मेरे लिए करो, या मेरे सभी रूपों के हित के लिए करो, कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

जब प्रभु के विराट् रूप में ही सभी प्राणी, सभी जीव समाहित हैं, तो फिर उसी व्यापक भावना से अगर कर्म किया जाय, तब मनुष्य का कर्म प्रभु परायण हो सकता है। उस कर्म परायणता से आत्मान्वेषण की स्थिति भी प्राप्त हो सकती है। समग्र कर्म प्रभु के विराट् रूप के लिए करना है। यह नहीं भूलना है कि जिस प्रकार से वायुमण्डल में अदृश्य रूप से विद्युत शक्ति या चुम्बकीय शक्ति विद्यमान रहती है, ठीक उसी प्रकार से प्रभु की शक्ति भी सर्वत्र विद्यमान है। वह परम सत्ता केवल एक मूर्ति में नहीं, एक जीवन में नहीं, एक प्राणी में नहीं है, वरन् सम्पूर्ण सृष्टि में, सर्वत्र व्याप्त है। पर यह जागृति या सजगता हमें तब प्राप्त होगी जब हम ईश्वराभिमुख होंगे।

परमहंस सत्यानन्दजी लोगों से कहा करते थे कि कर्म का रूप होना चाहिए सेवा का और सेवा का रूप होना चाहिए पूजा का। जो भी कर्म तुम करो, उसे पूजा मानकर करो। अगर झाड़ू लगाते हो, तो पूजा मान कर लगाओ। अगर लिखते हो, तो पूजा मान कर लिखो। तब वह कर्म बोझ प्रतीत नहीं होगा।

अगर इतना भी करना कठिन है, तो सत्संग करना चाहिए, क्योंकि उससे भी आन्तरिक परिवर्तन होता है। सामान्य व्यक्ति कर्म को बोझ समझता है, क्योंकि उसमें अच्छे-बुरे कर्मों का भाव रहता है। सत्संग ज्ञान द्वारा इस विचारधारा में परिवर्तन हो जायेगा। परिवर्तन होने पर एक नयी सकारात्मक विचारधारा मन में पनपेगी। तब वह बोझ का भाव, जिससे हम स्वयं को दबा हुआ पाते हैं, एक सीमित दायरे के भीतर देखते हैं, बदलेगा

और दृष्टिकोण व्यापक होगा। जैसे-जैसे दृष्टिकोण बदलेगा तथा व्यापकता आएगी, वैसे-वैसे हम अपने कर्मों के प्रति सजग होते जायेंगे और कर्म पूजा का रूप ले लेगा।

परमहंस सत्यानन्दजी कहते थे कि अहंकारी लोग न तो अभ्यास करते हैं और न सेवा। ऐसे लोगों को अवश्य ही सत्संग में जाना चाहिए। हो सकता है कि सच्चा सत्संग न मिले, पर संसार सन्तों से रिक्त नहीं है। उनकी खोज करनी चाहिए। सत्संग की प्यास तीव्र हो तो सन्त अवश्य मिल जाते हैं। सत्संग से आत्म-चिन्तन का अवसर प्राप्त होता है। उसके बाद हम अपने चित्त को ठिकाने लगा सकते हैं।

'मदर्थमपि'– मतलब मेरे लिए, ईश्वर के लिए। *'मदर्थमपि कर्माणि'*– जैसा भी काम करो, उसमें ईश्वर का भाव रहना चाहिए। ब्रह्मार्पण-भाव से कर्म करने पर सिद्धि मिलती है। भगवान् कृष्ण ने नवम् अध्याय में कहा है –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

अर्थात्, हे अर्जुन! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, तथा जो कुछ स्वधर्माचरण रूप कर्म करता है, वह सब मुझको अर्पण कर।

प्रभु के लिए कर्मों को करते हुए तुम सिद्धि प्राप्त कर लोगे, इसमें कोई संशय नहीं। लेकिन यह ख्याल रखना कि जब तक तुम्हारे भीतर प्रेम की भावना नहीं रहती, प्रभु के लिए कोई कर्म नहीं हो सकता। प्रेम की भावना स्वार्थ से नहीं जुड़ी है, बल्कि इसमें एक व्यापक उदार दृष्टिकोण अपनाया गया है। कर्म को प्रेम भावना के साथ, ईश्वर के प्रति अनुराग के साथ जोड़ देते हैं, तब वह पूजा का रूप धारण कर लेता है। सामान्यत: कर्मों के साथ कर्ता की आकांक्षा जुड़ी रहती है।

इस श्लोक में प्रभु ने यह नहीं कहा है कि तुम कर्म की आकांक्षा का त्याग कर दो। वे एक ही निर्देश देते हैं कि कर्मों को करते जाओ और मुझे अर्पित करते जाओ। यहाँ अर्पित शब्द का जो प्रयोग हुआ है, उसी से तात्पर्य निकाला गया है प्रेम का। अर्पण करना तो प्रेम के साथ। अगर प्रेम के साथ अर्पण नहीं कर सकते हो, तब फिर वह मार्ग तुम्हारे लिए नहीं है। इसमें स्व-समायोजन की भी बात होती है। स्व-समायोजन में अपने विचार और कर्म को

परिस्थितियों के अनुरूप बदलना पड़ता है, जो एक अज्ञानी मनुष्य कदापि नहीं कर सकता। वह उसकी क्षमता के बाहर है।

यह देखने में आता है कि एक छोटे परिवार में भी, जहाँ पर सिर्फ दो-चार लोग रहते हैं, उत्तरदायित्वों को आपस में बाँट लेते हैं। जब एक व्यक्ति को उस छोटे परिवार से निकालकर दूसरे बड़े परिवार में डाल दिया जाता है, तो वहाँ पर उसे पहले जैसी सुविधा या वैसे ही कार्य नहीं मिल पाते। उसे पुरानी यादें सताने लगती हैं। वह सोचता है कि पहले हम इस प्रकार से रहते थे, इस प्रकार से कार्य करते थे, वहाँ तो वैसा नहीं है। यह घटना हर दिन और हर व्यक्ति के साथ घटती रहती है। मूल बात तो यह है कि व्यक्ति अपने विचार, कर्म और भावना को परिस्थिति के अनुसार बदल नहीं पाता है। जितने भी सद्भाव या सद्विचार उस व्यक्ति के मन में रहते हैं, सभी उस नयी परिस्थिति में गायब हो जाते हैं। जब व्यक्ति एक परिस्थिति को स्वीकार नहीं कर पाता, तो वह अपने कर्म ईश्वर को किस प्रकार समर्पित कर पाएगा? एक ही उपाय है–दिल में प्रेम होना चाहिए। दिखावा नहीं कि सामने नम्रतापूर्वक सिर झुकाते हैं, हाथ जोड़ते हैं और पीछे उलटी बातें करते हैं। अगर दिल में प्रेम होता है, तो जिन्दगी बदल जाती है।

जब प्रभु इस प्रकार कहते हैं, तब अर्जुन कहता है कि इससे भी कोई सरल मार्ग मुझे बतलाइये।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥11॥

अर्थ

इसके पूर्व के श्लोक में बताये गये उपाय को भी करने में यदि तुम अशक्त हो, तो (अन्य उपाय यह है कि) अपने को नियन्त्रित करने वाला बनकर (जितेन्द्रिय बन कर) मेरे प्राप्ति रूप योग के आश्रित हो जाओ और जो भी कर्म तुम करते हो, उनसे प्राप्त होने वाले फलों को त्याग दो, अर्थात् उनकी आकांक्षा मत करो।

व्याख्या

पूर्व में प्रभु ने कर्म करने को कहा था, फल त्याग की बात नहीं की थी। पूर्व में यह आशा थी कि कर्मों के साथ प्रेम भाव भी जाग्रत हो जायेगा, लेकिन जब ऐसा नहीं होता, तब एक ही उपाय बचता है। कर्म तो करना ही है, लेकिन

उसके फल की आशा छोड़ दो। कर्म से फलाकांक्षा हटा दो। सामान्य जीवन में कर्मफल का त्याग करना आवश्यक है तथा यही सुगम एवं सरल उपाय है।

एक व्यक्ति एक ऊँचे पहाड़ की चोटी पर खड़ा है और दूसरा पहाड़ के नीचे। दूसरा व्यक्ति पहले से मिलने हेतु ऊपर चढ़ना चाहता है; जानना चाहता है कि ऊपर जाने का कौन-सा रास्ता है। पहला व्यक्ति कहता है, *'मय्येव मन आधत्स्व'* – मुझे देखते रहो और चढ़ते जाओ। जब तक मैं तुम्हें दिखलायी दूँगा, यह स्पष्ट रूप से मालूम रहेगा कि तुम सही रास्ते पर चल रहे हो। अगर मैं तुम्हारी दृष्टि से ओझल हो जाऊँ, तो समझना कि तुम गलत रास्ते पर चले जा रहे हो। तुम्हारा लक्ष्य मैं ही हूँ। चलते जाओ, चढ़ते जाओ, पर देखते भी रहो। यहाँ पर सजगता अपनी चरम सीमा पर है। मैं चल भी रहा हूँ, चढ़ भी रहा हूँ, स्वयं को गिरने से तथा गलत राह पर चलने से बचा भी रहा हूँ और अपने लक्ष्य को देख भी रहा हूँ, उससे विचलित भी नहीं हो रहा हूँ।

पर दूसरे व्यक्ति का कहना है कि मुझसे देखना, चलना और चढ़ना, ये तीनों कार्य एक साथ नहीं हो सकते। तब ऊपर खड़ा आदमी कहता है कि अगर वह नहीं कर सकते हो, तो *'अभ्यास योगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय'* – और *'अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव,'* अर्थात् अभ्यास द्वारा मुझे पाने का प्रयास करो और यदि यह सम्भव नहीं है, तो मेरे लिए ही कर्म करो। तात्पर्य यह कि जितना तुमसे सम्भव बन पड़ता है, उतना ही करो, धीरे-धीरे करो, पर करते जाओ।

दूसरे आदमी को यह बात भी सम्भव नहीं लगती है। उसे धैर्य कहाँ? आप अपने ही जीवन में देखिये, धैर्य है क्या? आत्मान्वेषण करने से मालूम पड़ेगा कि धैर्य ही अभ्यास की पहली शर्त है। जब धैर्य ही नहीं तो नियमितता कहाँ से आयेगी, निरन्तरता का स्थान कहाँ रहेगा?

यह मार्ग भी दूसरे व्यक्ति को कठिन मालूम पड़ता है। पूछता है, तीसरा मार्ग है क्या? तब ऊपर वाला कहता है कि हाँ, रास्ता तो है, लेकिन घुमावदार तथा टेढ़ा है और तुमको खुद बनाना पड़ेगा। अब दूसरा आदमी सोचता है कि चढ़ूँ भी मैं, वहाँ पर पहुँचूँ भी मैं और रास्ता भी खुद बनाऊँ, यह तो बड़ा कठिन है। यहाँ पर भी वह विफल हो जाता है। वह ऊपर वाले से पूछता है कि इससे भी सरल रास्ता बतलाओ। तब ऊपर वाला कहता है – *'अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।'* ठीक है, तुमसे जितना बन पड़े, उतना ही सही। मैं तुमको खुद वहीं मिल जाऊँगा। जहाँ पर तुम रुक जाओगे, मैं वहाँ खुद नीचे आ जाऊँगा।

समझौते की एक बुरी आदत है। अगर एक भक्त के जीवन में समझौते की स्थिति आती है, तो वह उसके पतन का कारण बनती है। पर प्रभु ने वह विकल्प भी दे दिया है। जहाँ तक तुम आ सकते हो, वहाँ तक तो आओ। मैं भी आधी दूर आ जाता हूँ। यहाँ पर भले ही परमात्मा ने अपने भक्त के साथ समझौता करना स्वीकार कर लिया है, लेकिन भक्त को यह स्वीकार नहीं करना चाहिए कि परमात्मा समझौता करें। भक्त के लक्षण होने चाहिए कि वह अपने इष्ट को, आराध्य को, स्वामी को प्रसन्न रखे, उनके निर्देशानुसार चले।

अभी तक प्रभु ने भक्ति के चार उपाय बतलाये हैं – पहला परमात्मा में लीन रहना, दूसरा अभ्यास करते जाना, तीसरा कर्मों को अर्पित कर देना और चौथा फल की आकांक्षा त्याग देना। फल त्याग करना बहुत कठिन है।

इस श्लोक का अर्थ होता है कि तुम कर्म करते जाओ, लेकिन सफलता-विफलता पर ज्यादा ध्यान मत दो। फल की प्राप्ति तात्कालिक कर्मानुसार कभी नहीं होती। फल की प्राप्ति हमेशा पूर्व कर्मानुसार होती है। अगर हम यह अपेक्षा रखें कि आज के कर्म के अनुसार हमें फल मिले, तो वह सम्भव नहीं है। कभी-कभी अच्छे कर्म विफल हो जाते हैं और बुरे कर्म सफल हो जाते हैं। जब अच्छे कर्म विफल और बुरे कर्म सफल होते हैं, तब जीवन में बड़ी निराशा होती है। निराशा इसलिए शुरू होती है कि हम उस तात्कालिक कर्म के फल को भी तत्काल ही देखना चाहते हैं। लेकिन याद रखना कि अगर आज हम आम का पेड़ लगायेंगे तो क्या उससे आज ही फल मिलेगा? नहीं। वर्षों के बाद आम के पेड़ से फल मिलता है।

प्रकृति का यह नियम है कि जो कर्म आज करोगे, उसका फल तुम्हें वर्षों के बाद मिलेगा। जो कुछ तुम पहले कर चुके हो, उसका फल तुम्हें आज मिल रहा है। बबूल का एक पेड़ तुमने पन्द्रह साल पहले लगाया था और उसका फल तुम्हें आज मिल रहा है। अत: जो पहले किया, उसका फल आज भोगो और आज जो कुछ कर रहे हो, उसका फल कभी भविष्य में भोगना पड़ेगा। यह प्रकृति का नियम है, लेकिन अपने अज्ञान के कारण मनुष्य इस नियम को भूल जाता है और स्वीकार नहीं कर पाता। वह चाहता है कि मैं जो भी कर्म करूँ, उसका फल ही नहीं, अच्छा फल मुझे अभी मिल जाये।

इसी विचारधारा के कारण लोग सिद्धि आदि के चक्कर में पड़ते हैं। नवरात्रि के समय साधना करते हैं, क्योंकि पुस्तकों में पढ़ा है कि अमुक मन्त्र का डेढ़ लाख बार जप करने से सिद्धि मिल जायेगी, अदृश्य हो जायेंगे,

दूसरों के मन की बातें जान लेंगे, इत्यादि। यह सोचकर खूब मन लगाकर साधना करते हैं कि नौ दिनों के बाद मुझे सिद्धि तो मिलेगी ही, डेढ़ लाख क्या, दो लाख बार भी कर देंगे कि अगर कहीं भूल-चूक हो गयी हो, तो उसकी पूर्ति हो जाये। नौ दिनों के बाद कहते हैं कि सब बेकार किया। प्रतिदिन दो बजे रात्रि से प्रातः ग्यारह बजे तक जप किया। डेढ़ लाख जप पूरा किया, लेकिन देवी ने दर्शन नहीं दिया, सिद्धि नहीं मिली। अरे भाई, इसका फल मिलेगा पन्द्रह वर्षों के बाद, जब तुम्हारे संस्कार उस प्रकार से शुद्ध हो जायेंगे। तुरन्त फल प्राप्ति की धारणा गलत है। यही धारणा लोगों को अविद्या के बन्धन में डालती है। अभी जो फल मिल रहा है, वह पूर्व कर्मों का फल है, लेकिन अज्ञानी इसे आज के कर्म का ही फल मानते हैं।

हम जो कर्म फल की आशा रखते हैं, वह कभी मिलता है, कभी नहीं मिलता, और कर्म-फल के रूप में सुख और दुःख, दोनों की प्राप्ति होती है। अगर दास्य भाव के साथ, समर्पण के साथ कर्म किया जाये तो भक्त को केवल आनन्द की प्राप्ति होती है। उस समय वह न अच्छे की इच्छा रखता है, न बुरे की। अगस्त महीने के कार्य के लिये सितम्बर में वेतन मिलता है, अर्थात् अगस्त के कर्म के फल का उपभोग हम सितम्बर में करते हैं। इसी प्रकार सितम्बर के कर्म फल का उपभोग अक्टूबर में और अक्टूबर के कर्म फल का उपभोग नवम्बर में किया जाता है।

मनुष्य प्रायः एक अपेक्षा के साथ कोई कर्म करता है, लेकिन प्रभु कहते हैं कि सर्वकर्म फलत्यागी को ही अधिक सफलता मिलती है। देखा जाये तो जो व्यक्ति फल त्याग की भावना से कर्म करता है, वह बड़े आनन्द में जिन्दगी बिताता है।

इन सब विषयों को ध्यान में रखने से पता चलता है कि हम कर्मों को करने के लिए स्वतन्त्र हैं। स्वतन्त्रता है कि हम अपने इच्छानुसार कर्म करें, लेकिन कर्म के वांछित फल को प्राप्त करना हमारे हाथ में नहीं है। आज के फल हमारे पूर्व कर्मों पर आश्रित रहते हैं। शान्ति प्राप्त करने के लिए तात्कालिक कर्म फल की आसक्ति को त्यागना पड़ता है। अगर कर्म-फल की आसक्ति का त्याग नहीं होता, तो शान्ति कभी नहीं प्राप्त करोगे। आसक्त रहोगे, तो उसमें अहंकार रहेगा, निराशा रहेगी, पागलपन, दुःख तथा रोना रहेगा। लेकिन जिस वस्तु पर अपना कोई हक न हो, उस पर अपना अधिकार जताना ही क्यों? उस हेतु ढोंग करना ही क्यों? इसलिए प्रभु यहाँ पर निर्देश

देते हैं कि तुम मात्र कर्म करो, और यह अपेक्षा मत रखो कि आज के सत्कार्य का फल आज से ही प्राप्त होगा। अत: *'सर्वकर्मफलत्यागं'*– कर्म के साथ जो भी आकांक्षा जुड़ी है, उसका ही त्याग कर दो।

तब अर्जुन कहता है कि क्या यही सबसे अधिक सरल और सहज उपाय है। प्रभु कहते हैं कि इससे सरल कुछ नहीं हो सकता। मैंने अभी जो निर्देश दिया है, उसका तात्पर्य है वर्तमान में जियो और वर्तमान में जीने के अतिरिक्त दुनिया में कोई सरल मार्ग नहीं है। जो भूत में जीता है, वह दु:ख प्राप्त करता है तथा जो भविष्य में जीता है, वह भी दु:ख प्राप्त करता है। अभी मैंने तुमको वर्तमान में जीने की शिक्षा दी, कल क्या होगा, उसकी चिन्ता मत करो। 'मत सोच समझ कल क्या होगा, होगा वही जो होना होगा।'

तब अर्जुन कहता है कि अगर आप कहते हैं कि यही अन्तिम उपाय है, तो मैं इसी मार्ग का अनुसरण करूँगा। वर्तमान में ही जीऊँगा। लेकिन प्रभु एक शंका मेरे मन में है, आपने तो अनेक मार्ग बतला दिये हैं और मैंने अपने लिए फल-त्याग का मार्ग चुना है, वह सबसे सुगम, सरल मार्ग है। कहीं सांसारिक लोग ऐसा तो नहीं कहेंगे कि अर्जुन प्रभु का शिष्य होते हुए भी उनके द्वारा बतलाये गये एक उत्तम मार्ग का चयन न करके सबसे सरल मार्ग का चयन कर रहा है। अब अर्जुन के मन में अपराध की भावना का उदय होता है। तब प्रभु कहते हैं कि ऐसा कभी मत सोचना।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥12॥

अर्थ

क्योंकि अभ्यास योग से ज्ञान योग, ज्ञान योग से ध्यान योग तथा ध्यान योग से कर्मफल का त्याग – ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। कर्मफल त्याग सर्वोत्तम इसलिए है कि इसे करते ही अविलम्ब शान्ति उपलब्ध हो जाती है।

व्याख्या

श्रीकृष्ण कहते हैं कि अभ्यास योग से ज्ञान योग उत्तम है, ज्ञान योग से ध्यान योग उत्तम है और ध्यान योग से कर्म फल त्याग उत्तम है, क्योंकि कर्म फल त्याग करते ही अविलम्ब शान्ति उपलब्ध हो जाती है। किसी क्रिया का सबसे

कठिन होना उसकी गुरुता या उत्तमता का लक्षण नहीं, और सबसे सरल होना उसकी लघुता का लक्षण नहीं है। विचारणीय तो यह है कि तुम्हारे लिए कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है, जिसका तुम अबाध रूप से, बिना रोक-टोक के अनुसरण कर सकते हो।

यहाँ प्रभु ने अभ्यास, ज्ञान, ध्यान, कर्मफल त्याग और शान्ति, इन पाँच शब्दों का प्रयोग किया है। सबसे पहले वे कहते हैं कि अभ्यास से ज्ञान उत्तम है। यह किस प्रकार? जो अभ्यास पहले बताया गया है, अभ्यास का अर्थ होता है बार-बार करना। एक ड्राफ्ट्स मैन या आर्किटेक्ट एक बार में ही अपने कार्य को अन्तिम रूप नहीं देता है। बनाने के पूर्व उसका एक चित्र बनाता है। वह नहीं जँचता, तो दूसरा चित्र बनाता है, वह भी नहीं जँचता तो तीसरा बनाता है, परिवर्तन करता है। अन्त में अनेक प्रयासों के बाद भवन का एक रूप दिखलायी देता है, जो उसकी रुचि के अनुरूप होता है। पढ़कर प्रवचन देने वाले अपना प्रवचन लिखते हैं। एक बार लिखा जाता है कि कहीं विवादास्पद भाषा का प्रयोग तो नहीं हो गया है। अन्त में संतुष्ट होने के बाद प्रवचन को अन्तिम रूप दिया जाता है। इस विधि को कहते हैं अभ्यास–किसी एक क्रिया को पूर्णता की स्थिति में लाने के लिए प्रयासपूर्वक संशोधन, परिवर्तन आदि करना।

यहाँ जिस स्थिति की चर्चा प्रभु करते हैं, वह है शान्ति की स्थिति। वे कहते हैं कि इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए बार-बार प्रयास करना पड़ता है। कभी सफलता मिलती है, कभी नहीं मिलती; कभी मन लगता है, कभी नहीं लगता; कभी मन केन्द्रित होता है, कभी नहीं होता। मानसिक चञ्चलता के कारण मन निरन्तर एक स्थिति में नहीं लगा रहता है।

ज्ञान का साधारण अर्थ होता है जानना। ज्ञान को विवेक और अविवेक से दूर हटा कर समझना चाहिए, क्योंकि विवेक या अविवेक तो ज्ञानावस्था के लक्षण हैं। जब व्यक्ति के भीतर ज्ञान की एक स्थिति उत्पन्न होती है, तब वह विवेक का रूप धारण करती है। वह एक लक्षण है। जब मनुष्य के मन में ज्ञान नहीं होता, तब अज्ञान का स्वरूप अविवेक रहता है। वह भी लक्षण है। इसलिए विवेक और अविवेक को अलग रखते हुए ज्ञान को समझना है। ज्ञान का सामान्य अर्थ होता है जानना। यहाँ जिस प्रयोजन या उद्देश्य से ज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है, वह है शान्ति। अत: यहाँ इसका विशेष अर्थ हो जाता है। ईश्वर, माया और जीव के परस्पर सम्बन्ध के अनुभव प्राप्त होते हैं, तो वे ज्ञानानुभव कहलाते हैं।

अभ्यासियों के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें ज्ञान प्राप्त हो। ज्ञान के अभाव में वे अभ्यास नहीं कर पायेंगे। किसका अभ्यास करेंगे? माया के सम्बन्ध में, ईश्वर के विषय में जानकारी रहे, तो प्रयास हो सकता है कि मैं इसका अनुभव करूँ। जीवन के सन्दर्भ में जानकारी रहे, तो जीवन को पहचानने का प्रयास किया जा सकता है। प्रभु फिर कहते हैं कि ज्ञान से ध्यान उत्तम है।

ध्यान का साधारण अर्थ है, किसी एक विचार, पदार्थ या रूप में अपने चित्त को केन्द्रित कर देना। ज्ञान से ध्यान को उत्तम माना गया है, क्योंकि ज्ञान का शाब्दिक, बौद्धिक स्वरूप ध्यान में प्रत्यक्ष हो जाता है। लकड़ी के बदले यदि लड़की कहें, तो लड़की का स्वरूप प्रत्यक्ष होता है। दोनों शब्दों में केवल 'क' और 'ड़' के पारस्परिक स्थान-परिवर्तन से परस्पर भिन्न वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप मन के सामने प्रत्यक्ष होता है। उनका शरीरिक रूप दिखलायी देने लगता है। ध्यान के द्वारा वही रूप हृदय या अन्त:करण में प्रत्यक्ष हो जाता है। ज्ञान चाहे कितना ही क्यों न हो, ध्यान के बिना उसका प्रत्यक्षीकरण नहीं हो पाता। ज्ञान के भौतिक स्तर पर एक बोध अवश्य प्राप्त हो सकता है। परन्तु उस अवस्था का आन्तरिक अनुभव प्राप्त करने के लिए ध्यान आवश्यक है।

परमहंस सत्यानन्दजी कहते थे कि ध्यानी ध्यान बल से अपनी चित्तवृत्तियों को एकाग्र कर लेता है और ज्ञानी ज्ञान के विस्तृत साम्राज्य में अपने हाथ-पैर पटकता रहता है। इसका मतलब यही है कि ज्ञान से भी अविद्या बढ़ने लगती है। व्यक्ति समझ नहीं पाता कि किधर जाऊँ, क्या करूँ। परमहंसजी यह भी कहते थे कि ज्ञान से वृत्तियों का विस्तार होता है, दमन नहीं। ध्यान से वृत्तियों का निरोध होता है तथा अगोचर वस्तुओं की प्राप्ति होती है। ध्यान में न पोथी है न घण्टी, केवल मैं ही रहता हूँ।

श्रीकृष्ण फिर कहते हैं कि कर्मफल त्याग ध्यान से अधिक महिमामय है। यहाँ पर पुन: कर्मफल त्याग आया है। कर्मफल त्यागी तुरन्त परम शान्ति को प्राप्त करता है। वह परम शान्ति है क्या? योगी उसे मोक्ष कहते हैं। कर्मफल त्याग के पश्चात् मोक्ष की, शान्ति की प्राप्ति होती है। मोक्ष की यह स्थिति जन्म-मृत्यु से परे की अवस्था है। मनुष्य के जन्म-मृत्यु चक्र के मूल में हैं इच्छायें, आकांक्षायें और आशायें। एक आशा का सम्बन्ध दूसरी से रहता है, दूसरी का तीसरी से, तीसरी का चौथी से और इस प्रकार आशाओं की असीम, अनन्त कड़ी बन जाती है। उन्हें किस प्रकार निर्मूल किया जाये?

शास्त्रों में बताया जाता है आशा को लेकर फल भोग की इच्छा रखने से पुनर्जन्म होता है और जब कर्मफल की इच्छा नहीं रहती, पुनर्जन्म भी नहीं होता है। आशा का मोह छूटने का मतलब है कर्मफल का त्याग।

पहले ही स्पष्ट कहा गया है कि कर्मफल की आशा रखने से क्या परिणाम होगा, कहा नहीं जा सकता। आज तक के कर्मों का फल तो मिलना ही है, चाहे दस वर्षों के बाद मिले। आज अगर आशाओं को छोड़ते हैं, तो दस वर्षों के बाद उनका परिणाम दिखलायी देगा। हम एक टंकी को पानी से भर देते हैं, लेकिन टंकी के पानी को खतम होने में समय लगता है। जितने नल लगे हैं, उसी मात्रा में पानी टंकी से निकलता है। धीरे-धीरे टंकी खाली होती जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि आशा में कष्ट तथा जन्म-जन्मान्तरों का चक्कर है और फल की आशा त्यागने में शान्ति है, आनन्द है। कर्मफल त्याग का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है दूसरों के लिए कर्म करना, जिसमें अपना स्वार्थ न रहे। अगर अपने लिए कर्म हो तो उसमें स्वार्थ रहता है। जब दूसरों के लिए कर्म हो, तो वह स्वार्थ रहित माना जाता है। कर्मफल त्याग का यह एक अर्थ माना जा सकता है। दूसरा अर्थ है कि कर्म करने के बाद जो फल प्राप्त होते हैं, उनके प्रभाव से मुक्त रहना।

एक गृहस्थ को अपनी जीविका चलाने के लिए कर्म करना पड़ता है। परिवार के पालन-पोषण, भोजन, वस्त्र, आवास, दवा और शिक्षा की व्यवस्था हेतु कर्म करना आवश्यक है। उक्त इच्छा पूर्ति के लिए धन की आवश्यकता होती है। सभी प्रकार के कर्मों के साथ धन कमाने की भावना जुड़ी रहती है। यदि सफलता न मिले तो हम तनाव, निराशा और चिन्ता से ग्रस्त हो जाते हैं। आवश्यकता तो इस बात की है कि मन में व्यर्थ की चिन्ता या तनाव एकत्र न कर समस्याओं का समाधान खोजें। दिन-रात चिन्ता या तनाव से ग्रस्त रहने का तात्पर्य यह है कि हम अपने कर्मों के परिणाम, आशाओं से प्रभावित हो रहे हैं। जब मनुष्य इस प्रभाव से मुक्त रहेगा, तभी अपने विचार एवं चेतना को दूसरों की सेवा में लगा सकेगा।

दूसरों के लिए कुछ करने या वस्त्र, पैसा आदि दान देने में एक समस्या खड़ी होती है। सोचते हैं कि हम पुण्य कमा रहे हैं। एक ओर मनुष्य कहता है कि निःस्वार्थ भाव से कर्म कर रहा हूँ और दूसरी ओर कहता है कि इससे पुण्य अर्जित कर रहा हूँ, ताकि स्वर्ग में इसका लाभ मिले। इसका मतलब यही है कि आशा को एक दिशा से हटाकर दूसरी दिशा में लगा दिया। यह गलत

है। फल त्याग का लक्ष्य मुक्ति होना चाहिए, पुण्य की प्राप्ति नहीं। पुण्य के साथ आशा जुड़ जाती है। सन्तों ने कहा है कि पुण्य की भावना भी बन्धन है, क्योंकि उससे आशा जुड़ी हुई है। प्रभु बार-बार कर्मफल त्याग कहते हैं, कर्म त्याग नहीं, फल की आशा का त्याग करना है।

त्याग की व्युत्पत्ति 'त्यज्' धातु से होती है, जिसका अर्थ होता है छोड़ना, किसी चीज को अपने से अलग करना। जब त्याग का सम्बन्ध वैराग्य से रहता है तब उसका एक विशेष अर्थ हो जाता है। कर्मफल त्याग में वैराग्य की भावना है, मतलब फल के प्रति राग या आसक्ति नहीं। इसी भाव को गीता में कहा गया है कर्मफल त्याग। कर्मफल त्याग का मतलब यह है कि फल में तुम्हारा जो राग छिपा हुआ है, उसे छोड़ दो। इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो कर्मफल का पूर्णतः त्याग, जो एक पूर्ण विरक्त ही कर सकता है। दूसरा फल की आशा का त्याग, जो एक गृहस्थ भी कर सकता है।

भोजन का फल होता है मल, हम रोज उसका त्याग करते हैं, अन्यथा रोग के शिकार हो जायेंगे। जब ऐसी स्थिति है, तो कर्मफल का त्याग नहीं होने से वह मल का रूप धारण कर रोग उत्पन्न करेगा। जिस प्रकार आदमी मल-त्याग की चिन्ता करता है, उसी प्रकार कर्मफल त्याग की भी चिन्ता करनी चाहिए। त्याग के दो अर्थ होते हैं – लेना और देना। त्याग केवल देना ही नहीं, छोड़ना ही नहीं, लेना भी है। तुलसीदास जी कहते हैं – *'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।'* बिना संग्रह के मनुष्य त्याग को पहचान नहीं सकता। यदि त्याग हुआ तो संग्रह पचता है और यदि संग्रह ही संग्रह होता रहा तो संग्रहणी हो जाती है। यह तुलसीदास जी का भाव है।

शास्त्रों में त्याग के अलग-अलग प्रकारों की चर्चा की गयी है और त्याग के सात रूपों को स्वीकारा गया है – प्रथम, निषिद्ध का त्याग, जो वस्तु वर्जित है, उसको छोड़ देना; जैसे, सिगरेट, मद्यपान आदि, जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं। दूसरा है काम्य त्याग। काम्य का मतलब होता है, जिसकी कामना होती है। काम्य त्याग का अर्थ है, जिस चीज की कामना हो, उसका त्याग कर देना। तीसरा है तृष्णा त्याग। चौथा त्याग है दूसरों से सेवा कराने का। पाँचवाँ त्याग है कर्मों में आलस्य का त्याग। छठा त्याग है कर्म के फल का त्याग तथा सातवाँ त्याग है कर्म में ममता और आसक्ति का।

फिर श्रीकृष्ण कहते हैं कि त्याग से शान्ति की प्राप्ति होती है। शान्ति का मतलब मन का आलस्य नहीं और न चुपचाप एकान्त में बैठना है। शान्ति

का अर्थ होता है एक जाग्रत और सजग स्थिति, जिसमें मनुष्य अपने चेतन तत्त्व का साक्षात्कार करता है। भौतिक दृष्टि से शान्ति के दो रूप होते हैं– आपत्ति या विषम परिस्थिति में विचलित नहीं होना और परमात्मा में अटूट विश्वास रखना। तुम कहते तो हो कि सब भगवान् की इच्छा से होता है, लेकिन इसको सिर्फ बौद्धिक रूप से नहीं, बल्कि जीवन में व्यावहारिक रूप से उतारना है। अत: कर्म करते जाओ, परन्तु फलों के साक्षी बने रहो। तभी सुखी रहना सम्भव होगा। प्रभु से यह सुन अर्जुन प्रसन्न हो गया। उसने सोचा कि मैंने अपने लिए एक उत्तम मार्ग चुना है, जिसे मैं सबसे सरल और निम्न मानता था, उसे ही भगवान् सर्वश्रेष्ठ बतला रहे हैं। अगर कोई मार्ग इससे भी सरल होगा, तब भी मुझे उसकी अभिलाषा नहीं है। अब मैं यथाशक्ति कर्म करूँगा, विरोधियों का संहार करूँगा, उसके परिणाम से मतलब नहीं।

इसके बाद पुन: विचार करते हुए अर्जुन प्रभु से पूछता है– प्रभु! जो व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी होता है, शान्ति का अधिकारी होता है, उसका रहन-सहन, आचार-विचार एवं व्यवहार किस प्रकार के रहते हैं? उसके उत्तर में भगवान् विस्तार से भक्त के लक्षणों का वर्णन करते हैं।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥13॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥14॥

अर्थ

सभी भूतों में (चाहे वे सजीव हों या निर्जीव) द्वेषहीन, मित्रतापूर्ण, करुणापूर्ण, ममतारहित, अहंकार रहित तथा दु:ख-सुख में समान भाव से रहने वाला और सहनशील क्षमावान (भक्त) ही मुझे प्रिय है।

व्याख्या

इस अध्याय में तेरहवें से बीसवें श्लोक तक प्रभु भक्त के लक्षणों तथा योग्यताओं का वर्णन करते हैं। पूज्य परमहंस सत्यानन्दजी इन आठ श्लोकों को अमृताष्टक कहते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं *'अद्वेष्टा'* – जिसमें द्वेष न हो; *'सर्वभूतानां मैत्रः'* – जो संसार के सभी प्राणियों से मैत्री रखे; *'करुण एव च'* – और जिसके भीतर दया, करुणा का भाव हो, *'निर्ममः'* – जिसके अन्दर अपनेपन की भावना न रहे; *'निरहंकारः'* – अहंकार से अप्रभावित; *'समदुःखसुखः'* – दुःख और सुख में समभाव रखने वाला; *'क्षमी'* – जो क्षमाशील हो, जिसके भीतर क्षमा का भाव हो; *'संतुष्टः'* – जो हमेशा सन्तुष्ट रहता है, किसी प्रकार की अपेक्षा, आकांक्षा उसके भीतर न हो; *'सततं योगी'* – जिसका व्यवहार योगी जैसा रहता है, जो चित्त को अपने वश में रखता है। *'यतात्मा'* – जो आत्मा को नियन्त्रण में रखता है; *'दृढनिश्चयः'* – जो निश्चय पर अटल रहता हो; *'मय्यर्पित मनोबुद्धि'* – जो मुझमें मन और बुद्धि अर्पित कर चुका हो; *'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'* – ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

यहाँ जिन लक्षणों की चर्चा की गयी है, वे सर्वधर्म वाणी हैं। सभी दर्शन, धर्म और मत इन्हीं लक्षणों के विकास का मार्ग बताते हैं, किन्तु इन योग्यताओं को प्राप्त करने के लिए पात्रता चाहिए। परमहंस सत्यानन्दजी कहते हैं कि तीन प्रकार के पात्र होते हैं – सुराही, कढ़ाई और बन्द बोतल। अब यह निश्चित करो कि तुम किस प्रकार के पात्र हो। अगर सुराही हो, तो पानी भरेगा और शीतलता प्रदान करेगा। अगर कढ़ाई हो, तो पानी तो भरेगा, पर छलक जायेगा। अगर बन्द बोतल हो तो कुछ सोचने की आवश्यकता ही नहीं है। संसार में प्रायः अधिकतर लोग बन्द बोतल ही होते हैं।

अद्वेष्टा का मतलब होता है द्वेष का नहीं होना। राग में आकर्षण और द्वेष में विकर्षण होता है। यहाँ कहा गया है कि किसी के प्रति द्वेष या विकर्षण का भाव नहीं रहे और जब विकर्षण नहीं रहेगा तो प्रेम भाव उत्पन्न होगा। द्वेष के विपरीत तो प्रेम का ही भाव होता है। प्रेम राग नहीं है, प्रेम स्वयं में एक गुण है। जब मनुष्य द्वेष रहित हो जाता है, तब उसके भीतर प्रेम और शान्ति की जागृति होती है। यह प्रेम दिखलायी देता है ईश्वर के प्रति आकर्षण के रूप में। प्रेम को अविनाशी माना गया है। प्राणियों का मूल धर्म है कर्म। कर्म को मनीषियों ने प्रेम ही माना है। प्रेम एक ऐसी चीज है जिसे सभी चाहते हैं, उसे कोई ठुकराता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि दूसरा व्यक्ति मुझसे प्रेम करे, मुझसे द्वेष न करे, मेरी निन्दा न करे। प्रेम एक सर्वव्यापी गुण है। जब इस सर्वव्यापी गुण को साधक अपने भीतर जाग्रत करता है, तब द्वेषरहित होता है। ईश्वर के प्रति प्रेम बढ़ने पर वही प्रेम समस्त प्राणियों के प्रति

परिलक्षित होने लगता है। अतः अद्वेष्टा का अर्थ द्वेषविहीन और प्रेम पूर्ण होने से लगाया गया है। दसवें अध्याय के आठवें श्लोक में कहा गया है –

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

प्रभु कहते हैं *'अहं सर्वस्य प्रभवो'* – मैं ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ; *'मत्तः सर्वं प्रवर्तते'* – मुझ से ही समस्त दृश्य जगत् क्रियाशील बनता है; *'इति मत्वा भजन्ते मां'* – इस प्रकार समझ कर मुझे भजते हैं; *'बुधा भावसमन्विताः'* – श्रद्धा और भक्ति से युक्त वे बुद्धिमान्।

यहाँ उसी बात को दूसरे तरीके से समझाया गया है। वह यह कि जब हम ईश्वर-भाव से प्राणियों को देखने लगेंगे, तो विकर्षण किससे होगा? *'भाव समन्विताः'* – मनुष्य जब प्रेम, श्रद्धा, आदर तथा सम्मान के भाव से युक्त हो जाता है, अभिभूत हो जाता है, तब वह बुद्धिमान् कहलाता है। बुद्ध का सामान्य अर्थ है, जो समझ गया है। बुद्धिमान् का तात्पर्य यहाँ मानसिक बुद्धि से युक्त होना नहीं, बल्कि जीवन में प्रेम, श्रद्धा, सम्मान की भावनाओं से युक्त होना है।

इस श्लोक में प्रभु ने मनोविज्ञान का प्रयोग किया है। यह देखने में आता है कि जब कोई भक्त या साधक द्वेष रहित मनः स्थिति और प्रेम भाव जाग्रत करने का प्रयास करता है, तब वह जीवन और संसार से उदासीन या विरक्त हो जाता है। यहाँ *'सर्वभूतानां मैत्रः'* इसलिए कहा गया है कि साधना में उदासीनता नहीं आये। उदासीन अवस्था को दूर रखने के लिए तुम मैत्री भाव धारण करो। जब तुम्हारी मित्रता सभी से रहेगी, तब तुम सक्रिय रूप से अपने विचारों, कर्मों और क्रियाओं को देख सकते हो तथा नियन्त्रण में रख सकते हो।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि द्वेषरहित होना ही पर्याप्त नहीं है, अगर सभी के प्रति मित्रता का भाव रखते हो, तो एक क्रियात्मक व्यवहार उत्पन्न होगा और वह व्यवहार तुम्हें सजग, जाग्रत, पुरुषार्थी और क्रियाशील बनाये रखेगा।

करुणा या दया एक ऐसा भाव है, जिसके द्वारा मनुष्य आसुरी प्रवृत्ति को जीवन से हटा सकता है। कथा है – एक बार दानव, मनुष्य और देव पितामह ब्रह्मा के पास जाते हैं। पितामह उन्हें उपदेश के रूप में 'द' शब्द प्रदान करते हैं। मनुष्य ने उसका अर्थ लगाया दान कर्म। देवों ने अर्थ लगाया, इन्द्रिय दमन। दानवों ने उसका अर्थ लगाया दया। दानव तो हिंसक थे, लूटना,

मारना, काटना, सताना, तंग करना उनकी वृत्तियाँ थीं। शास्त्रों में भी कहा गया है कि दया सभी धर्मों का मूल है। दया या करुणा से युक्त व्यक्ति किसी प्राणी को दु:खी नहीं देख सकता तथा उसे सुख पहुँचाने का हर सम्भव प्रयास करता है। वह स्वयं भी सजग रहता है कि उसकी वाणी, विचार और व्यवहार से दूसरों को किसी प्रकार का कष्ट न हो।

'निर्मम:' का मतलब होता है ममत्व-बुद्धि से मुक्त होना। अद्वेष्टा, मैत्री और करुणा की स्थिति आ जाने से ममत्वहीन अवस्था भी पीछे नहीं रहती। उस समय यह बोध हो जाता है कि इस संसार में कोई चीज मेरी है ही नहीं। जब मेरी नहीं है, तो आसक्ति किससे? किसी विषय, विचार या वस्तु में मेरापन आये, तो वहाँ स्वार्थ जुड़ने लगता है। जहाँ स्वार्थ है वहाँ मनुष्य गलती करता है। पत्नी, बच्चे और सम्पत्ति के साथ मेरापन है, संसार में मेरापन है। लौकिक दृष्टि से तो यह ठीक है, क्योंकि हमें एक पहचान, एक परिचय बनाये रखना है, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टिकोण से संसार तो विराट् पुरुष की सम्पत्ति है। तब फिर मैं उसे अपना कैसे कहूँ, मैं भी तो उनका ही हूँ। विराट् की भावना सम्पूर्ण जगत् को ईश्वर के अधीन देखने की भावना है और उससे जो परिवर्तन प्राप्त होता है, वह है ममत्वरहित अवस्था।

आप किसी रोगी की दयावश सेवा करते हैं, उसका ज्वर उतारने के लिए गोली देते हैं, और कहते हैं कि ठीक हो जाओगे। हो सकता है कि उसका तापक्रम 105 डिग्री हो, किन्तु आपका काम सेवा करने और दवा देने तक ही सीमित है। आप चिन्ता नहीं करते। यह है दया भाव। यदि आपके पुत्र को बुखार आ जाये तो आप घबरा जाते हैं। यदि उसका तापक्रम 100 डिग्री भी हो तो आप विशेषज्ञों के पास दौड़ने लगते हैं। रातभर उसके बिछावन की बगल में बैठे रहते हैं। बुखार देखते रहते हैं और चिन्ता खाये जाती है। जो भाव आपने उस रोगी के प्रति व्यक्त किया था, वही भाव यहाँ क्यों नहीं व्यक्त कर पाते हैं? इसलिए कि ममत्व, मेरापन का भाव इतनी गहराई में छिपा है कि जिस चीज को हम अपना मानते हैं, उसमें दया का भाव प्रकट नहीं होता। जिस चीज को अपना नहीं मानते, हो सकता है कि वहाँ दया का भाव प्रकट हो जाये।

दूसरों के लिए दया और अपनों के लिए ममता, यही भौतिक अवस्था है। इसीलिए प्रभु निर्मम: शब्द का प्रयोग करते हैं कि आरम्भ में जो गुण बतलाये गये हैं, तथा जो बतलाये जाने वाले हैं, जीवन में उनके फलीभूत होने के लिए ममत्वहीन अवस्था को प्राप्त करना अति आवश्यक है।

फिर आता है *'निरहंकार:'*– अहंकार रहित अवस्था। अहंकार की व्याख्या कोई दे नहीं सकता है। यह तो रावण का सिर है, एक काटो तो दूसरा निकल जायेगा, दूसरे को काटो तो तीसरा और इस प्रकार अहंकार के क्रमश: सात सिर होते हैं। अहंकार में सभी अन्धे हो जाते हैं। अहंकार में दूसरे का ही अस्तित्व दिखलायी देता है। अहंकार के कारण हम अपनी प्रतिष्ठा नीचे गिरने देना नहीं चाहते। बड़े से बड़ा विद्वान् या ज्ञानी ही क्यों न हो, जब तक वह सिद्ध नहीं होता, अपने आपको बड़ा ज्ञानी मानता है। जिस स्थिति में उसने स्वयं को पहुँचाया है, उससे अपनी प्रतिष्ठा को नीचे नहीं आने देना चाहता।

अहंकार का एक रूप होता है परनिन्दा। अरे, आज तो उसने ऐसा कर दिया, आज तो उसने वैसा कर दिया। दूसरा रूप होता है आत्म-कथा या आत्म-प्रशंसा। मैंने पहले ही ऐसा कह दिया था, आदि। तीसरा रूप है डींग मारना। बड़ों से परिचय के बारे में डींग मारना भी अहंकार है। स्वामीजी मैंने उस मुख्यमंत्री को योग सिखाया, इस सचिव को योग सिखाया, इतने आइ.ए.एस. पदाधिकारियों को योग सिखाया, इत्यादि। चौथा रूप है, 'मेरी ही बात ठीक है', दूसरों की बातों को गलत कहकर अस्वीकार करना और अपनी बातों को, भले ही वे कितनी भी खोखली क्यों न हों, सत्य साबित करने का प्रयास करना। पाँचवाँ रूप होता है अपने सामर्थ्य, अपनी सीमा से ऊँचा रहन-सहन धारण करना। छठा रूप होता है अपने से छोटों से मिलने में हिचक। अरे, इससे हम क्या मिलेंगे, यह तो मेरे स्तर का नहीं है। इस प्रकार अहंकार के अनगिनत रूप हो सकते हैं। हमें स्वयं अपने भीतर विद्यमान अहंकार के विभिन्न स्वरूपों को पहचान कर उन्हें निर्मूल करने का प्रयास करना होगा।

अहंकार का उन्मूलन आत्म-निरीक्षण के द्वारा सम्भव है। यदि कोई व्यक्ति चाहे कि हम ध्यान में जिस प्रकार से अपनी बुद्धि, विचार और चित्तवृत्तियों पर रोक लगाते हैं, उसी प्रकार अहंकार पर भी रोक लगायें, तो ऐसा करना संभव नहीं। इसका एक प्रमुख कारण है कि अहंकार की अनगिनत अभिव्यक्तियाँ हैं।

इसके बाद प्रभु कहते हैं, *'समदु:खसुख:'*– दु:ख और सुख में समान रहना। जो व्यक्ति जीवन में निराशा या उल्लास का अनुभव करता है, वह सुख और दु:ख के बन्धन में पड़ता है। जब कोई बात हमारे अनुकूल हो, तब उसमें सामान्यत: सुख का अनुभव होता है और सुख की अवस्था में जो हर्ष उत्पन्न होता है, वह हमें सुख से बाँधता है। जब कुछ प्रतिकूल होता

है, तब हमें दु:ख होता है। उस दु:ख से उत्पन्न निराशा भी बन्धन का काम करती है। सुख-दु:ख में समभाव प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना होगा, ताकि सुख से या दु:ख से बँधे नहीं। उदाहरण के लिए, श्रीराम के जीवन में सुख के दिन कितने और दु:ख के दिन कितने थे? श्रीकृष्ण के जीवन में सुख के दिन कितने और दु:ख के दिन कितने थे? आप समझ लीजिये कि सुख और दु:ख के क्षणों में उनकी कैसी प्रतिक्रियायें हुईं थीं। वे सुख या दु:ख के भावों से बँधे थे या नहीं? समभाव की चर्चा करना सरल है, पर आचरण करना कठिन। भक्त के लिए सुख और दु:ख स्वप्न के समान होते हैं। यदि स्वप्न में लाटरी मिले या साँप काट ले, तो उसका क्या महत्त्व होगा? स्वप्न में साँप काटे तो जग जाओ, यही उसका इलाज है। दु:ख हो तो जग जाओ, और यह जागना होता है विवेक के द्वारा। सुख के बन्धन में भी मत पड़ो।

उसके बाद भगवान् कहते हैं क्षमी – क्षमाशील में प्रतिकार की भावना नहीं होती। क्षमा की अनेक परिभाषायें हो सकती हैं – किसी का बुरा नहीं सोचना क्षमा का एक प्रमुख रूप है। यदि कोई किसी का किसी प्रकार नुकसान या अनादर करे, तो स्वभावत: ऐसा करने वाले के प्रति बुरे विचार आते हैं। बुरे विचार आने का तात्पर्य यह है कि उसने क्षमा नहीं किया है। बाहर से कहना कि चलो क्षमा कर दिया, लेकिन अन्दर में कहना कि ठीक है, मौका आने दो, बदला लेकर रहूँगा। बुरे विचारों का आना, शाप देना, आदि एक प्रकार की नकारात्मक प्रतिक्रिया है।

क्षमा परोपकार नहीं है और न किसी के प्रति एहसान जताना है। परमहंस सत्यानन्दजी कहते हैं कि क्षमा वही कर सकता है, जो अपने दोषों को देखता है और दूसरों के गुणों को पहचानता है।

प्रभु ने चौदहवें श्लोक में निम्नांकित गुणों की व्याख्या की है – *'संतुष्ट:'* – जो संतुष्ट है, *'सततं योगी'* – बिना व्यवधान के योगनिष्ठ है, जो अपने निश्चय पर अटल रहता है, *'मयि अर्पित मनोबुद्धि'* – जिसने अपना मन और बुद्धि मुझे अर्पित कर दिया है, *'यो मद्भक्त: स मे प्रिय:'* – वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

यहाँ सर्वप्रथम सन्तोष नामक गुण की चर्चा है। सन्तोष एक अनुशासन है, जो व्यक्तिगत जीवन में संयम लाने में सहायक होता है। योग सूत्रों के नियम के अन्तर्गत सन्तोष की चर्चा होती है। सन्तोष अन्त:करण की एक ऐसी स्थिति है, जहाँ किसी प्रकार के विक्षेप नहीं रहते और मनुष्य पूर्ण सजगता

के साथ आन्तरिक संयम का अनुभव करता है। इच्छाओं और वासनाओं पर सन्तोष के द्वारा नियन्त्रण की प्राप्ति होती है। प्रभु कहते हैं कि भक्त में एक अनुशासन के रूप में सन्तुष्टि का भाव होना आवश्यक है। भक्त अपने जीवन में अगर असन्तोष का अनुभव करता है तो उसकी तृष्णा, पिपासा, इच्छा और कामना कभी तृप्त नहीं होती। कामना और इच्छा की अग्नि में असन्तोष के कारण मनुष्य संतप्त होता रहता है। अपनी कामना और वासना को नियन्त्रित करना है, तो सबसे पहले अपने जीवन में सन्तोष के अनुशासन को लागू करना होगा।

इसके आगे है *'सततं योगी'*– सततं का मतलब होता है निरन्तर, हमेशा और योगी का अर्थ ध्यान योग में युक्त हुआ। शास्त्रों के अनुसार योगी उन्हें कहा जाता है जिन्होंने अपनी चित्तवृत्तियों को वश में कर लिया हो। यहाँ भी उसी भाव से योगी शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसने अपनी समस्त वृत्तियों और उपवृत्तियों को नियन्त्रित कर चेतना को अद्वैत में स्थापित कर लिया है, योग पद्धति में प्रतिष्ठित है, योगनिष्ठ है, उसे ही योगी कहते हैं।

फिर है *'यतात्मा'*– जिसने स्वयं को नियन्त्रण में रखा हो। यतात्मा का उद्‌भव 'यम्' धातु से हुआ है, जिसका अर्थ नियन्त्रण करना होता है। यतात्मा में यत् और आत्मा नामक दो शब्द दिखलायी देते हैं। यहाँ यतात्मा का तात्पर्य है आत्म संयम से। जब तक मनुष्य संयमी न हो, तब तक वह सांसारिकता के बन्धन में रहता है। जब वह अपने को संयत कर लेता है, तब वह एकाग्रचित्त, कभी विचलित न होने वाला सिद्ध कहलाता है। योग सूत्रों के अनुसार धारणा, ध्यान और समाधि की तीन अवस्थाओं का संयोग संयम की स्थिति है। धारणा में आन्तरिक एकाग्रता स्पष्ट रूप से दिखलायी देती है। जब उस एकाग्रता का साक्षात्कार होता है, तब वह ध्यान की स्थिति है। साक्षात्कार के अनुभव से एकाकार होने पर वह समाधि की स्थिति है। वही भाव यहाँ पर दिखलायी देता है। एकाग्र होने के लिए पहले नियन्त्रण की आवश्यकता होती है, ताकि मैं स्वयं को एकाग्रता के केन्द्र बिन्दु से विचलित न होने दूँ। यह स्थिति क्षणिक एकाग्रता की नहीं है, जैसा कि ध्यान के समय अनुभव होता है। एकाग्रता की स्थिति में ज्ञान भी है और समाधि का अनुभव भी है। जो स्वयं को नियन्त्रित रखता है, वह आत्म संयमी कहलाता है। इसीलिए प्रभु यह बतलाते हैं कि मन की ग्रहणशीलता या संवेदनशीलता के विकसित हो जाने पर संयम की जो स्थिति उत्पन्न होती है, वही समाधि की अवस्था है।

इसके बाद प्रभु कहते हैं *'दृढनिश्चयः'* – जो कभी लक्ष्य भूलता नहीं है, जो कभी अपना निश्चय बदलता नहीं है। जब हम बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होकर एक निश्चय कर लेते हैं, पता नहीं वह सुनिश्चय है या कुनिश्चय कोई बतला नहीं सकता है, न कोई समझ सकता है। जब प्रभु निश्चय शब्द का प्रयोग करते हैं, तो इसका मतलब हो जाता है सुनिश्चय। यह व्यावहारिक निश्चय है, वह निश्चय नहीं है जो आप प्रतिदिन करते रहते हैं। एक आत्मिक लक्ष्य को धारण कर, दृढ़ता और स्थिरता के भाव को अपने भीतर लाना निश्चय है। ऐसा निश्चय करने वाले को दृढ़निश्चयी कहा गया है। लोगों के भौतिक जीवन में यह हठ के रूप में प्रकट होता है, जो सकारात्मक नहीं है। एक बालक जब खिलौने की इच्छा रखता है, तो वह हठ करने लगता है, रोने-चिल्लाने लगता है, खाना ठुकरा देता है और वह तब तक ऐसा करते रहता है, जब तक कि उसे खिलौना मिल नहीं जाता। यह भी तो एक निश्चय ही है, पर यह हठ का रूप है, जिद का रूप है। जैसे-जैसे व्यक्ति की उम्र बढ़ती है, उसके निश्चय का स्वरूप भी बदलता जाता है। जैसे-जैसे बुद्धि और चेतना विकसित होती हैं, चिन्तन प्रक्रिया का विकास होता है, निश्चय का स्वरूप बदलता है।

कुछ लोग अपने जीवन के लिए संकल्प या निश्चय करते हैं, और उस मार्ग पर चलने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन वे विफल हो जाते हैं, क्योंकि उनके संकल्प या निश्चय बाह्य परिस्थितियों तथा कर्मों से प्रभावित हो जाते हैं, किन्तु एक त्यागी या एक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति के जीवन में उस निश्चय का स्वरूप दूसरा होता है। सुनिश्चय के साथ कर्मठता भी जुड़ी रहती है। मधुमक्खी दिनभर परिश्रम करती है, और मधु एकत्र करती रहती है, यह तो उसका निश्चय है। ध्रुव ने निश्चय किया था कि मैं पिता की गोद में बैठूँगा। उस निश्चय पर वह दृढ़ रहा। उसके पिता, सौतेली माँ और सौतेला भाई तो बिछुड़ गये, लेकिन अपने दृढ़ निश्चय के कारण वह परम पिता परमात्मा की गोद में बैठने में सफल हो गया। इस सफलता के पीछे उसका दृढ़ निश्चय, संकल्प, तपस्या, कर्मठता, परिश्रम और पुरुषार्थ था। अगर संकल्प में केवल आशा हो, तो वह सफल नहीं होता, परन्तु यदि उसमें कर्मठता जुड़ जाये तो अवश्य ही सफल होता है।

उसके बाद प्रभु कहते हैं *'मय्यर्पित मनोबुद्धिः'* – यह आठवें श्लोक की पुनरावृत्ति है। आठवें श्लोक में वे कहते हैं –

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत उर्ध्वं न संशयः ॥

जो मुझमें ही मन लगा दे, मुझमें ही बुद्धि को स्थापित कर दे, वह मुझमें ही निवास करता है, वह मुझसे एक हो जाता है। इस आठवें मन्त्र का जो भाव है, उसे प्रभु यहाँ पुनः दुहराते हैं। जिस भक्त ने मन और बुद्धि को मुझे अर्पित कर दिया है, वही मुझे प्रिय है। इस प्रकार तेरहवें और चौदहवें मन्त्रों में उन्होंने निम्नांकित बारह लक्षणों का उल्लेख किया है – (1) अद्वेष्टा (2) मैत्री (3) करुणा (4) ममत्वहीनता (5) अहंकार-शून्यता (6) सुख-दुःख में समभाव (7) क्षमाशीलता (8) सन्तुष्टि (9) योगनिष्ठा (10) यतात्मा (11) दृढ़निश्चयी और (12) मन एवं बुद्धि को प्रभु में समर्पित करने वाला। यह एक प्रकार से प्रभु का विज्ञापन है कि भाई, भक्त की जगह खाली है, भक्त चाहिए, लेकिन उसके लिए उपर्युक्त योग्यताओं का होना आवश्यक है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥15॥

अर्थ

जिससे कोई भी जीव क्षुब्ध नहीं होता और जो स्वयं किसी जीव से क्षुब्ध नहीं होता है तथा जो हर्ष, दूसरे की उन्नति के प्रति असहिष्णुता, डर तथा अन्य प्रकार के संतापों से मुक्त है, वह भक्त मुझे प्रिय है।

व्याख्या

प्रभु कहते हैं कि जिस साधक से संसार तथा संसार के प्राणी क्षुब्ध नहीं होते, जो हर्ष, ईर्ष्या, भय या उद्वेग से प्रभावित नहीं होता, ऐसा भक्त मुझे प्यारा है।

यदि हम किसी को क्लेश, पीड़ा, दुःख या संताप दें, तो वह व्यक्ति हमारे कारण क्षुब्ध हो जाता है। जो दूसरों के कर्म या आचरण से उद्विग्न नहीं होता, वह उनसे प्रभावित नहीं होता है। इसके पश्चात् चर्चा होती है हर्ष की, मतलब खुशी या प्रसन्नता और अमर्ष की, अर्थात् जलन या ईर्ष्या की। आदमी प्रसन्न तब होता है, जब उसकी कोई कामना पूर्ण होती है, उसे कोई कर्मफल प्राप्त होता है। उसे जलन या ईर्ष्या तब होती है, जब वह दूसरों की उन्नति से अपनी तुलना करता है। भय शब्द भी आया है। भय का अर्थ यहाँ होगा

असुरक्षा, जिसे मनोविज्ञान की भाषा में कहते हैं आत्महीनता की भावना। प्रभु का निर्णय है कि जो इस मानसिक व्याधि के दु:ख और सन्ताप से मुक्त हो, वह मुझे प्रिय है। इस श्लोक में जितने भी बिन्दुओं की चर्चा है, उन्हें एक ही उद्वेग शब्द से समझा जा सकता है। उद्वेग का मतलब होता है आत्मन: प्रतिकूलानि। मतलब स्वयं के प्रतिकूल अवस्था उद्वेग की स्थिति है। भक्त के जीवन में उद्वेगों का निराकरण कैसे हो? उन्हें कैसे शान्त किया जाये? प्रभु नौवें श्लोक में पहले ही बतला चुके हैं कि अगर तुम मन को एकाग्र और स्थिर नहीं रख सकते हो, तो अभ्यास योग के द्वारा ही मुझे प्राप्त कर सकते हो। यहाँ पर उसी प्रकार का अर्थ निकलता है कि हर्ष-अमर्ष, भय-उद्वेग, स्वार्थ, संवेदनशीलता और कठोरता को अपने नियन्त्रण में लाने का प्रयास हो।

पहले तो प्रभु ने स्पष्ट रूप से कह दिया कि करुणा का भाव, मैत्री का भाव होना चाहिए। व्यावहारिक रूप से मनुष्य इन भावों को लाने का प्रयास भी कर सकता है। अब यहाँ वे मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। वे कहते हैं कि व्यावहारिक रूप से तुम सब कुछ करो, लेकिन मित्रता या द्वेषरहित भाव में आकर अपने अन्त:करण की प्रतिक्रिया को नहीं भूलना। अन्त:करण की प्रतिक्रिया को खुद देखो। जब मुझमें चित्त लगाकर, मुझमें बुद्धि को केन्द्रित कर कर्म करते हो, तो तुम्हारी क्या स्थिति रहती है? क्या तुम प्रतिकूल या अनुकूल स्थिति से प्रभावित हो जाते हो? अनुकूल से प्रभावित होना तो स्वाभाविक है और प्रतिकूलता को नियन्त्रण में रखना कठिन है।

मुंगेर का एक लड़का कुछ समय के लिये आश्रम जीवन बिताने आया। यहाँ आने के पूर्व घर में कुछ विवाद हुआ था। उसे शंका बनी रहती थी कि घर वाले आकर स्वामीजी से मेरी शिकायत करेंगे। उसके पिता भी प्रतिदिन यहाँ आते थे। पिता को देख लड़का यह सोचकर काँपने लगता कि आज उसकी शिकायत होगी। उसके पिता कभी मुझसे नहीं मिले और न एक शब्द ही कहा, लेकिन एक दिन पाँच बजे सबेरे वह लड़का घर पहुँचा और पिता से झगड़ने लगा कि आपने आश्रम जाकर मेरी शिकायत की है। वस्तुत: ऐसी कोई बात थी नहीं। बहुत बार तो ऐसा भी होता है कि दो आदमी आपस में बातें करते हुए किसी प्रसंगवश हँसने लगते हैं और उधर से गुजरता हुआ तीसरा आदमी सोचता है, वे उसे ही देखकर कर हँस रहे हैं। इस मानसिक अवस्था को कहते हैं उद्वेग, आशंका, भय-संवेदनशीलता और आत्महीनता से ग्रस्त होना, जिनके कारण मन तरह-तरह की कल्पनायें करने लगता है। गीता में

कहा गया है कि समाज में आपकी वजह से किसी को क्लेश न हो और समाज से आपको कष्ट न हो। ये सभी भक्त के गुण हैं।

आजकल के भक्त कैसे हैं? वे नाम जपते हैं, कीर्तन, भजन करते हैं, अपने आपको भक्त कहते हैं, लेकिन हमेशा अशान्त और उद्वेगपूर्ण स्थिति में रहते हैं। उन्होंने अपनी विचारधारा, अपनी चेतना को संकीर्ण बना दिया है और स्वयं की प्रतिक्रियाओं को देखने की क्षमता उनमें नहीं है। जिस उद्देश्य से प्रभु ने उद्वेग की चर्चा की है, उसका सन्दर्भ यह है कि तुम अपनी आन्तरिक प्रतिक्रिया को देखकर उसे संयत रखो। जब तुम्हारे मन में यह भावना दृढ़ हो जायेगी कि मैं दूसरों से, समाज से कष्ट प्राप्त नहीं करता हूँ और समाज को, परिवार तथा मित्र-बन्धुओं को मुझसे कष्ट नहीं मिलता है, तब मनोवैज्ञानिक व्याधियाँ, भय, निराशा, हीनता, अपराध-भाव इत्यादि सब कम हो जायेंगे। तब तुम एक जाग्रत, शुद्ध, पवित्र, चेतना की स्थिति को प्राप्त करोगे और मेरे प्रिय बन जाओगे। द्वेष और उद्विग्नता का नहीं होना, हर्ष और विषाद में समभाव को धारण करना आदि मानसिक उपचार की प्रक्रियायें हैं।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥16॥

अर्थ

जो दूसरों से अपेक्षा (आशा) नहीं करता, पवित्र, कुशल, तटस्थ तथा सभी तरह के दु:खों से मुक्त है, ऐसा सभी कृत्यों के फल को छोड़ने वाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

व्याख्या

श्रीभगवान् कहते हैं कि जो दूसरों से आशा या अपेक्षा नहीं रखता है, जो पवित्र, कुशल, उदासीन, तटस्थ और सभी प्रकार के दु:खों से मुक्त है, जो सभी कृत्यों के फल को छोड़ने वाला है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। अपेक्षा रखना मनुष्य का सहज स्वभाव है। हम स्वयं से अपेक्षा रखते हैं। अनेक बार व्यक्ति के मन में प्रश्न उठता है कि काम कैसे चलेगा, क्या होगा, मेरी सहायता कौन करेगा। इस प्रकार के भाव में हमारा स्वार्थ जुड़ा है। हम अपनी सन्तुष्टि के लिए कुछ आशा स्वयं से तो रखते ही हैं, दूसरों से भी रखते हैं।

अपेक्षारहित कैसे बना जाये? निरपेक्षता स्वयं में एक अद्‌भुत साधना है। जब मनुष्य स्वयं पर विश्वास करने लगता है, स्वयं के विचार तथा कर्म पर उसकी आस्था रहती है, तब उसकी अपेक्षा धीरे-धीरे कम होने लगती है। अपेक्षा का कारण आत्महीनता का भाव है।

अनेक बार देखने में आता है कि जब कोई व्यक्ति काम से घर वापस लौटता है, तो आशा करता है कि चाय बनी रहे, खाना तैयार रहे। जब देखता है कि खाना नहीं बना है, पानी पीने को नहीं मिला, चाय नहीं मिली, तो वह चिल्ला उठता है। यह तो एक छोटा-सा उदाहरण है। गृहणी की समस्याओं को जानने का प्रयास हम नहीं करते। इस प्रकार दूसरों की समस्याओं के बारे में हम सोचते नहीं और स्वयं की इच्छा को प्रथम स्थान देने का प्रयत्न करते हैं, जिसके कारण हमेशा द्वन्द्व एवं कलह उत्पन्न हो जाते हैं। इसका कारण है मन के अन्दर के पूर्व नियोजित विचार या पूर्वनिर्धारित व्यवहार। यदि कोई साधक इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं को न देखे, न समझे, तो वह साधक कैसे कहलायेगा, भक्त कैसे बनेगा? सर्वप्रथम व्यावहारिक रूप से अपेक्षा रहित बनो। केवल भावनात्मक, आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं, बल्कि लौकिक और भौतिक दृष्टि से भी होना चाहिए। तो अपेक्षा और उपेक्षा, भरोसा और अविश्वास में संयम की आवश्यकता है। मनुष्य अपेक्षारहित होने से स्वार्थरहित भी हो जाता है।

इसके बाद है 'शुचि'। शुचि का सम्बन्ध होता है पवित्रता से, स्वच्छता से। यह योग का एक नियम भी है। यहाँ पर प्रभु ने शुचि शब्द का प्रयोग किसी बाह्य अर्थ में नहीं किया है। इस शब्द का सम्बन्ध तो एक आन्तरिक अवस्था से है, पवित्रता बाह्य या शारीरिक भी है तथा वैचारिक और आन्तरिक भी। मन को पवित्र करना, निर्मल करना स्वयं में एक कला है। मन को कैसे निर्मल करें? इसके लिए सर्वप्रथम मन के सभी आयामों को समझना होगा। सामान्य रूप से हम बिना अपने को समझे, एक भाव में आकर जोर-जबरदस्ती कर एक गुण को अपने भीतर स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। यह वैसी ही स्थिति है कि कमरे में हमने झाड़ू लगा दिया, कूड़े-कचरे को कमरे में बिछी दरी के नीचे डाल दिया और कह दिया कि कमरा साफ हो गया है। बाद में वह गन्दगी धीरे-धीरे बाहर निकलती है।

यह सम्भव नहीं कि हम अपने भीतर के विकारों, संस्कारों और दूषित विचारों को सदा के लिए एक गुण के द्वारा दबाये रखें। कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं तो वे अवश्य प्रकट होंगे। विकारों से कोई अछूता नहीं है, न ज्ञानी, न

गृहस्थ, न सन्त, न सामान्य व्यक्ति और न पशु-पक्षी। लेकिन हर एक में वे भिन्न शक्ति या तीव्रता से प्रकट होते हैं। जिन व्यक्तियों में ये भीतर में दबाये गये हैं, वहाँ वे एक मनोवैज्ञानिक विकृति का रूप धारण कर लेते हैं। शुचि का तात्पर्य, आचार-विचार-व्यवहार की पवित्रता से है।

दक्ष होना आवश्यक है। दक्ष का मतलब होता है, वह व्यक्ति जो चतुर और कुशल हो, सक्षम, सन्नद्ध और तत्पर हो। जहाँ पर भी कार्य बिगड़े वहाँ पहुँच कर उसे सुधार ले। दक्षता में प्रभु कर्मठता का पाठ दे रहे हैं। वे कहते हैं कि पवित्र बनो, लेकिन उसके साथ कर्मठ भी बनो। कर्मठता का मतलब कार्य ही नहीं करते रहो, वरन् कार्य में कुशलता और तत्परता भी आनी चाहिए। जब दक्षता, कुशलता और तत्परता का अनुभव जीवन में होने लगे, तब समस्त प्रकार के दुःख, क्लेश या अपेक्षायें समाप्त हो जाती हैं। वह व्यक्ति हमेशा वर्तमान में जीता है, भविष्य की चिन्ता नहीं करता और भूतकाल से निराश हो जाता है। वर्तमान में जीते हुए सफल, सम्पन्न और सुखी बनता है।

प्रभु 'उदासीन' कहते हैं। यह उदासी नहीं, उदासी को कोई अच्छा नहीं समझता है। उदास लोग अकर्मण्य बन जाते हैं। लोग उदासी को दुःख का परिणाम तथा लक्षण समझते हैं। किसी उदास व्यक्ति को देखकर विचार आयेगा कि बेचारा अवश्य ही दुःख से पीड़ित है, जरूर इसे कुछ क्लेश हुआ है। लेकिन उदासीन और उदासी में अन्तर है। उदासीन का मतलब होता है तटस्थ और यह तटस्थता मनुष्य को सुख-दुःख के परे ले जाती है। तटस्थ रहना विद्या का रूप है, साधना नहीं। तटस्थ भाव में 'न उधो से लेना न माधो को देना' के भाव में व्यक्ति को न खुशी का अनुभव होता है और न दुःख का। आत्मसंयमी बनने पर मनुष्य के भीतर प्रज्ञा की जागृति होती है, और वह जीवन से, संसार से, समाज से अप्रभावित रहने लगता है। तब उसे तटस्थ भाव का अनुभव होने लगता है।

कितने लोग तटस्थ रह सकते हैं? निद्रा के पूर्व दिन की घटनाओं को अपने विचारों में देखो। आज मैंने आत्मसंयम कब खोया, मैं कब निराश हो गया, मैंने कब दुःख का अनुभव किया, और यह संकल्प कर लो कि मैं तटस्थ रहूँगा, उदास नहीं, अकर्मण्य नहीं, बल्कि कर्म करूँगा और तटस्थ रहूँगा। न किसी के पक्ष में और न किसी के विपक्ष में। यह शान्ति के लिए आवश्यक है। इसके बिना शान्ति नहीं मिलती, चाहे कितना ही ध्यान कर लो, कितना ही नाम स्मरण कर लो।

फिर भगवान् कहते हैं *'गतव्यथ:'* – जो व्यथा रहित हो गया हो। व्यथा कब जाती है? औषधि मिलने पर शारीरिक व्यथा चली जाती है। शान्ति मिलने पर मानसिक व्यथा जाती है। अगर साधक को शान्ति नहीं है, तो वह मानसिक व्यथा से पीड़ित रहेगा। इसीलिए सोच-समझकर प्रभु ने कहा, *'उदासीनो गतव्यथ:'* – पहले तटस्थ हो जाओ और फिर शान्ति को प्राप्त कर लोगे।

इसके बाद वे कहते हैं, *'सर्वारम्भ परित्यागी'* – सर्वारम्भ परित्यागी का तात्पर्य पुन: फल की आशा के त्याग से ही है। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि सभी प्रकार के सकाम कर्मों का परित्याग कर दो। सकाम कर्मों के त्याग के पश्चात् निष्काम कर्म बचते हैं। निष्काम कर्म में किस चीज का त्याग होता है? कर्मफल का। इसीलिए प्रभु कहते हैं कि सकाम कर्म का त्याग करो। सकाम कर्म मत करो। *'सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्त: स मे प्रिय:'* – जो सफलतापूर्वक निष्काम कर्म सम्पादित करता है, मन में सकाम भाव नहीं लाता है, जिसे किसी प्रकार की इच्छा एवं अपेक्षा नहीं है, ऐसा ही भक्त मुझे प्रिय है।

गीता में एक ही विचार को श्रीकृष्ण भिन्न-भिन्न तरीकों से दुहराते हैं। इसके पीछे कुछ प्रयोजन है। प्रथम प्रयोजन को समझने के लिए यह जानो कि किस परिस्थिति में उन्होंने गीता का सन्देश किसको दिया था। जो आदमी स्नायविक व्यतिक्रम या विषाद की अवस्था में हो, उसे एक बार कहने पर कोई बात समझ में नहीं आती है। इसीलिए प्रभु एक ही बात को बार-बार अनेक प्रकार से कह कर अर्जुन की दुर्बलता को दूर कर रहे हैं। द्वितीय कारण यह है कि जितनी बार भी वे एक विषय को दुहराते हैं, उसका सम्बन्ध जीवन के किसी-न-किसी नये पक्ष से रहता है। कभी ज्ञान के सन्दर्भ में एक विचार रखते हैं, कभी त्याग को लेकर उसी बात को दुहराते हैं, तो कभी कर्म को लेकर। इसी प्रकार प्रभु ने फल की आशा के त्याग से सम्बन्धित विचार अनेक बार दुहराये हैं। मतलब एक ही रहता है, पर सन्दर्भ या सम्बन्ध अलग-अलग हो जाते हैं।

प्रभु कहते हैं कि विशेष प्रकार के विचारों, भावों और गुणों को अपने भीतर जाग्रत करो, इसी सन्दर्भ में फल त्याग की बात कहते हैं। वे कहते हैं कि चतुर बनो, कर्मठ बनो, तत्परता से कार्य करो और सकाम कर्मों का त्याग करो। वे कहते हैं कि तुम व्यावहारिक, लौकिक या भौतिक जीवन में जो कार्य करते हो, उसका भी ख्याल रखो। इसलिये प्रत्येक विचार को बहुत ही सजगता से समझने का प्रयत्न करना होगा। गीता पर जितना

मनन-चिन्तन होगा, जीवन के उतने ही नये-नये क्षेत्र प्रकट होंगे। यहाँ द्वैत-अद्वैत या भक्ति के सिद्धान्तों पर आधारित व्याख्या हम करें, फिर स्वयं उन्हें अपने जीवन में लागू करें। आपको अपने जीवन में जैसे-जैसे व्यावहारिक अनुभव हों, वैसे-वैसे इन सब विचारों को लागू करने का प्रयत्न कीजिये। तभी भारत का स्वप्न साकार होगा – विश्व को जाग्रत मानव मिलेगा।

युद्ध भूमि में श्रीकृष्ण का प्रयोजन यह नहीं था कि अर्जुन को राग-द्वेष से रहित बना दें। वे केवल यह चाहते थे कि अर्जुन युद्ध करे, धर्म का पालन करे। इतना तो उन्होंने कर लिया-समाज के दूषित तत्त्वों का संहार किया या कराया। गीता में जीवन-साधना की प्रक्रिया बतलायी गयी है। साधक यदि एक-एक श्लोक पर प्रतिदिन चिन्तन करे और अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करे, तो 700 दिनों में वह मोक्ष प्राप्त कर लेगा। गीता के प्रत्येक श्लोक को जीना होगा, अनुभव करना होगा, तब मोक्ष निश्चित है। मैं संन्यासियों से पूछता हूँ कि तुम कितने दिनों से संन्यास मार्ग में हो? कोई कहता है दस वर्ष, कोई बारह वर्ष, कोई चौदह-पन्द्रह वर्ष। पुन: पूछता हूँ कि संन्यासी क्यों बने। उत्तर मिलता है मोक्ष की प्राप्ति के लिए, भगवत् साक्षात्कार के लिए। मैं कहता हूँ कि मोक्ष तो तुम्हें सात सौ दिनों में दे सकता हूँ। प्रतिदिन गीता के केवल एक श्लोक को जीने का प्रयास करो। हम तो समझते हैं कि संसार में ईश्वरानुभूति हेतु गीता से अधिक शक्तिशाली और समर्थ दूसरा कोई साधन नहीं है, लेकिन केवल एक शर्त का पालन करना होगा। प्रतिदिन एक श्लोक जीओ।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥17॥

अर्थ

जो हर्ष, द्वेष, शोक और कामना से मुक्त है तथा जो शुभ एवं अशुभ सभी प्रकार के कर्मों के फल का त्याग करने वाला है, वह भक्ति सम्पन्न व्यक्ति मुझे प्रिय है।

व्याख्या

इसमें पूर्व में व्यक्त किये गये विचारों को ही दुहराया गया है। मनुष्य कब हर्षित होता है? अनुकूलता की स्थिति में वह प्रसन्नता का अनुभव करता है।

उस प्रसन्नता का नाम होता है हर्ष। प्रतिकूलता में विषाद या दु:ख का अनुभव होता है। यदि अनुकूलता में प्रसन्नता है, तो प्रतिकूलता में विषाद या दु:ख ही है। अनुकूल तथा प्रतिकूल तो हमारे मन की अवस्थायें हैं। जब तक अपनी इन अवस्थाओं को हम समझ नहीं पाते, तब तक इनसे मुक्त होना सम्भव नहीं है। पुत्र, धन या यश की प्राप्ति से हम प्रसन्न होते हैं। और प्रतिकूल परिस्थितियों – गरीबी, रोग, मृत्यु में हम दु:ख से विह्वल हो उठते हैं। प्रभु हमें अपने मनोभावों को, जिनका सम्बन्ध हमारे बाह्य जीवन एवं आन्तरिक भावनात्मक जीवन से है, नियन्त्रित रखने का निर्देश दे रहे हैं।

'न शोचति न काङ्क्षति' – जो शोक नहीं करता और जिसके भीतर किसी प्रकार की चाह नहीं है। अप्राप्ति की अवस्था में शोक की उत्पत्ति होती है। अप्राप्त को चाहना आकांक्षा है। इस प्रकार चाह और शोक, इच्छा और दु:ख एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। किसी से वियोग या बिछुड़न होने पर शोक का भाव प्रकट होगा। परिवार, मित्रों और सम्बन्धियों को छोड़कर जाने से शोक की उत्पत्ति होती है। आसक्ति के साथ है मानसिक, शारीरिक, विचारात्मक या भावनात्मक लगाव। ये जहाँ भी हों, शोकानुभूति होती है। जो जीवन की किसी परिस्थिति में, वियोग या बिछुड़न में शोक न करे और अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा न करे, अप्राप्त भोग की इच्छा न करे – वह मनुष्य ईश्वर को प्रिय होता है।

ये लक्षण किस अवस्था के प्रतीक हैं? बाह्य जीवन को संयत करने के पश्चात् आन्तरिक स्तरों में जब सकारात्मक परिवर्तन होते हैं, और उन परिवर्तनों के पश्चात् जब आत्मसंयम की स्थिति आती है, ये उस अवस्था के लक्षण हैं।

'शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्य: स मे प्रिय:' – जो शुभ और अशुभ का परित्याग करे। शुभ और अशुभ के परित्याग को दो प्रकार से देख सकते हैं। पहले के श्लोकों में प्रभु ने कहा है, कर्मफल का त्याग करना, सकाम और निष्काम कर्मों से जो फल की प्राप्ति होती है, उसकी अपेक्षा या आशा का त्याग करना। इस सन्दर्भ में लोग अर्थ लगाते हैं कि शुभ और अशुभ का मतलब होता है कर्मफल की सफलता की चिन्ता नहीं करना। एक दूसरा अर्थ भी लगाया जा सकता है। शुभ है पुण्य और अशुभ है पाप। शुभाशुभ परित्यागी का मतलब होता है पुण्य और पाप की भावना को भी तुम दूर रखो, त्याग करो। आत्मसंयम की अवस्था में तथा निष्काम कर्म में अनेक

बार पुण्य और पाप के भाव प्रकट हो सकते हैं। उनका निर्देश केवल कर्मों तक ही सीमित नहीं है। कर्म तो जीवन में निहित हैं ही। प्रभु कहते हैं कि तुम पाप और पुण्य के विचारों, भावों या संस्कारों का भी त्याग कर दो।

जब मनुष्य पाप और पुण्य की भावना से अलग हो जाता है, तब वह सम्पूर्ण सृष्टि को ईश्वर के रूप में देखने लगता है। उसके भीतर यह ज्ञान अनुभव के रूप में जाग्रत होता है। सृष्टि तो प्रभु ने की, पर सृष्टि में भेद का निर्माण तो मनुष्य ने किया। सृष्टि करते समय प्रभु ने हर प्राणी और हर पदार्थ में अलग-अलग गुण डाल दिये। जब कोई गुण हमारे अनुकूल होता है, उसे हम ग्रहण करते हैं। और तब हमारे मन में पुण्य की भावना, शुभ की भावना उत्पन्न होती है। जब कोई गुण प्रतिकूल हो, तो हमारे अन्दर अशुभ की भावना उत्पन्न होती है। इस श्लोक में कहा गया है कि जो पाप और पुण्य के भाव से अपने को अलग रख कर असली तत्त्वों को, मूल गुणों को पहचान सकता है, वही भक्त मुझे प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥18॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥19॥

अर्थ

जो शत्रु, मित्र, मान, अपमान, शीतलता, गर्मी, सुख और दुःख सब में एक समान रहता है, अर्थात् द्वन्द्वों से परे है और आसक्ति रहित है।

निन्दा तथा प्रशंसा को समान समझने वाला, मननशील, साधारण-से-साधारण वस्तु से अपनी आवश्यकता की पूर्ति से संतुष्ट रहने वाला, वास स्थान की चिन्ता से मुक्त रहने वाला, स्थिर बुद्धि वाला और भक्ति से ओत-प्रोत व्यक्ति मुझे प्रिय है।

व्याख्या

'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानपमानयोः' – जो शत्रु और मित्र में, मान और अपमान में समान भाव, अर्थात् एक प्रकार का भाव रखे; *'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्ग विवर्जितः'* – जो शीतलता और गर्मी में, सुख और दुःख में एक

समान आसक्ति रहित रहे; *'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी'* – निन्दा और प्रशंसा को समान समझने वाला, मननशील या चिन्तनशील; *'संतुष्टो येनकेनचित्'* – साधारण से साधारण वस्तु से भी अपनी आवश्यकता की पूर्ति से संतुष्ट हो; *'अनिकेत:'* – जिसे कोई अपेक्षा नहीं हो कि मैं कहाँ रहूँ, क्या करूँ, कहाँ सोऊँ, कहाँ पर मुझे सुरक्षा मिलेगी, कहाँ पर मैं खाना पकाऊँगा, निर्द्वन्द्व भाव, अवधूत भाव वाला, आवास की चिन्ता से मुक्त रहने वाला; *'स्थिरमति:'* – स्थिर बुद्धि वाला, जिसकी चिन्तन प्रक्रिया स्थिर हो, केन्द्रित हो, चञ्चल नहीं हो; और *'भक्तिमान्मे प्रियो नर:'* – ऐसा भक्तिमान, भक्तिभाव रखने वाला या भक्ति से ओत-प्रोत व्यक्ति मुझे प्रिय है।

शत्रु क्या करता है और मित्र क्या करता है? उन दोनों के साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध रहता है? मित्र उपकार करता है और शत्रु अपकार। जो तुम्हारा अपकार करे और जो उपकार करे, दोनों के प्रति एक समान भाव रखो। जब किसी के प्रति शत्रु-भाव प्रकट होता है, तब हम उससे चिढ़ने-कुढ़ने और जलने लगते हैं। हमेशा उसको निन्दित करने का प्रयास करते हैं, इस भय से कि कहीं वह भी मेरे प्रति ऐसा ही न कर रहा हो या करने की सोच रहा हो। शत्रु के चाल-चलन तथा विचार हमेशा भीतर में चुभते रहते हैं।

लोग कहते हैं कि संकट की घड़ी में जो काम आये, वही मित्र है। तात्पर्य यह कि मित्र हमेशा उपकार करता है। उपकार के कारण मित्र से एक भावनात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। दोनों अवस्थाओं में हम समभाव कैसे धारण करें? तुलसीदास कहते हैं – *'मिलत एक दारुण दु:ख देहीं, बिछुरत एक प्राण हर लेहीं।'* जब अपकारी से हमारा सम्बन्ध होता है तब दु:ख की प्राप्ति होती है। कुछ परिस्थितियाँ हमारी अपेक्षा के विरुद्ध चली जाती हैं और शत्रु के विरुद्ध मन में बदले की भावना उत्पन्न कर हमें इतना व्यथित कर देती हैं कि हम स्वयं को सम्हाल नहीं पाते। उपकारी के बिछुड़ने पर हम कहते हैं कि मेरी आत्मा तुम्हारे साथ जा रही है। अपने प्रिय के प्रति इस प्रकार के भाव व्यक्त होते हैं। अत: मित्र से भी दु:ख की प्राप्ति होती है। हमें दोनों स्थितियों में समभाव रखना है।

शत्रु से किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए? प्रभु कहते हैं कि शत्रु को कभी शत्रु नहीं मानना, एक अपकारी को अपकारी मत मानो। उसके साथ कभी अपकारपूर्ण व्यवहार मत करो। मित्र के लिए, उपकारी के लिए जो भाव तुम्हारे भीतर उत्पन्न होते हैं, उसे भी तुम संयत करो, उस भाव को उपकारी के प्रति आसक्ति में मत बदलने दो। उपकारी के साथ तो स्वाभाविक रूप से प्रेम

होगा, स्नेह होगा, यहाँ तक तो ठीक है। मैत्री भाव को रखना अच्छी चीज है, लेकिन उस मित्रता के भाव में अगर आसक्ति की उत्पत्ति होती है, तो समझ लो कि तुम गलत रास्ते पर चल रहे हो।

शत्रु और मित्र, दोनों को तुम एक भाव से देखो। जब अपकारी और उपकारी के प्रति अपने भीतर में समभाव ले आओगे, तब तुम स्वयं जान लोगे कि सभी पारस्परिक मतलब के खेल हैं। उस समय विवेक की जाग्रति होती है और वह विवेक जीवन में संयम को जाग्रत करता है।

'तथामानपमानयो:' – मान और अपमान में भी समभाव को रखना, *'शीतोष्ण सुखदु:खेषु सम:'* – शीत-गर्मी में समभाव रखना, सुख-दु:ख में समभाव रखना। मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, सुख-दु:ख, ये तो सनातन हैं। सुख में हम खिल उठते हैं और दु:ख में मुरझा जाते हैं। मान में फूलते हैं, अपमान में सूखते हैं। ये सभी तो सनातन खेल हैं। अगर इनसे हम घबराने लगें और स्वयं को समायोजित न कर सकें, तो हमें कष्ट होगा ही। गर्मी और सर्दी में तुम समायोजन करते हो। जब बहुत गर्मी लगती है, तब एक-एक कर कपड़े उतारने लगते हो। जब बहुत ठण्ढक लगती है, तब एक-एक कर कपड़े पहनने लगते हो। कान ढकने लगते हो, मोजा पहनने लगते हो। ये सभी हैं समायोजन की प्रक्रियायें। इसी प्रक्रिया को मान और अपमान में, सुख और दु:ख में क्या लागू नहीं कर सकते?

अगर मान और अपमान में, सुख और दु:ख में, सर्दी और गर्मी की ही भाँति अपने आपको, शरीर तथा मन को, विचारधारा, चिन्तन, संस्कार और व्यवहार को समायोजित कर लें, तब इनमें समभाव की प्राप्ति अवश्य होगी। कई बार कुछ विचारधारा वाले कहते हैं कि यह सब भगवान् का ही किया कराया है, उन्हीं का बनाया है। किन्तु इस विचारात्मक प्रक्रिया को वे अपने जीवन में उतार नहीं पाते। दु:ख हो तो फूट-फूट कर रोने लगते हैं, सुख हो तो उछलने लगते हैं। समायोजन की प्रक्रिया स्वयं को संतुलित करने की प्रक्रिया का अभ्यास होता है। बिना अभ्यास, प्रयास या पुरुषार्थ के ये सिद्ध नहीं हो सकते। मान और अपमान में, सर्दी और गर्मी में, सुख और दु:ख में समभाव रखो और उससे समायोजन करना सीखो, ताकि सभी प्रकार की परिस्थितियों में सहनशीलता प्राप्त कर सको। समायोजन का व्यावहारिक अर्थ होता है सहनशीलता। यदि सहनशीलता को प्राप्त कर लें, तब हम स्वयं को प्रभु के स्मरण में, ध्यान में, आराधना में केन्द्रित कर सकते हैं, तल्लीन कर सकते हैं।

'सङ्गविवर्जित:' – सङ्ग का मतलब आसक्ति, विवर्जित का मतलब है रहित। जो आसक्ति रहित रहे। शत्रुता-मित्रता, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी तथा सुख-दु:ख के भाव से मुक्त रहने का यह एक तरीका है। जिस व्यक्ति ने स्वयं को प्रभु को समर्पित कर दिया, उसका हृदय तो किसी ओर जाता ही नहीं, झुकता ही नहीं। एक अवस्था में हृदय का, भावनाओं का, विचारों का रम जाना आसक्ति कहलाती है। सुख-भोग में तथा दु:ख-भोग में भी आसक्ति रहती है। जो इस द्वन्द्वावस्था में समभाव को धारण करे, वही आसक्ति रहित हो सकता है, आसक्ति रहित अवस्था का अनुभव कर सकता है। मनुष्य की एक प्रवृत्ति रहती है – कामना की, अच्छाई की, अपने लिए एक अच्छी वस्तु की चाह की। उस सङ्ग, आसक्ति या विचार का त्याग करना आवश्यक है। उन सब चीजों को नश्वर जान कर, क्षणिक मानकर, मात्र क्षणिक आनन्द प्रदान करने वाले पदार्थ या वस्तु के स्वरूप को पहचान कर उनका त्याग कर ईश्वर में अपने ध्यान को लगाना चाहिए।

'तुल्यनिन्दास्तुति:' – जिसके लिए निन्दा और स्तुति समान हो। जो व्यक्ति स्तुति से, प्रशंसा से प्रसन्न हो जाये, वह क्या भक्ति कर सकेगा? निन्दा या स्तुति का असर एक घमण्डी या अहंकारी व्यक्ति पर ही पड़ता है। एक आदमी भगवान् बुद्ध के पास गया और उन्हें अनगिनत गालियाँ दीं। भगवान् बुद्ध निश्चल, सहज भाव से बैठे रहे, गालियाँ सुनते रहे। जब गालियाँ बन्द हो गयीं, तब बुद्ध उस व्यक्ति से प्रश्न करते हैं कि यदि तुम किसी को उपहार दो और वह उसे स्वीकार नहीं करे तो तुम क्या करोगे? आदमी कहता है कि वह समान वापस ले लूँगा, मैं खुश हो जाऊँगा कि मेरी चीज मेरे पास ही रह गयी। तब बुद्ध ने कहा कि जो गालियों का उपहार तुमने मुझे दिया है, वह मैं तुम्हें वापस कर रहा हूँ।

बुद्ध का यह उदाहरण सटीक है। निन्दा से आदमी के अहंकार को, घमण्ड को चोट पहुँचती है और स्तुति से उसके अहंकार तथा घमण्ड में वृद्धि होती है। जिन्दगी में ऐसे बहुत अवसर आते हैं। एक बार खुद ही अनुभव करके देख लेना, इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है। अगर हम अपनी निन्दा सुनते हैं, तो उसकी प्रतिक्रिया होती है। हम निन्दक पर क्रोध करते हैं। इस क्रोध का परिणाम होता है कि हम उसे नीचा दिखाने का प्रयास करने लगते हैं। निन्दा या स्तुति को केवल सुनना नहीं, बल्कि अन्दर में जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हो रही है, जो विचार तथा जो भावना उत्पन्न होती है, उसे देखना भी है।

निन्दा और स्तुति, शिकायत और तारीफ दोनों को देखो, दोनों में समभाव रखो। निन्दा से क्रोध और क्रोध से प्रतिकार की भावना उत्पन्न होती है। प्रशंसा से अनुराग और अनुराग से आसक्ति उत्पन्न होती है। इन दोनों अवस्थाओं को देखकर स्वयं को संयत रखना है।

अनुराग से आसक्ति और प्रत्युपकार की भावना एक अच्छाई है, उसे एक मानवीय गुण की संज्ञा भी दी गयी है। अगर इसे मानवीय गुण मानकर चलें तो ठीक है, लेकिन जहाँ इसकी आसक्ति के चक्कर में पड़ जायें, वहाँ भक्त के जीवन में यह बन्धन के रूप में प्रकट हो जाता है। फिर हमारे विचार, कर्म और व्यवहार प्रभु के निमित्त नहीं होते, बल्कि उनमें एक दूसरी भावना जुड़ जाती है। इसलिये लौकिक दृष्टि से प्रत्युपकार की भावना को एक गुण के रूप में समझें, देखें और इसे एक सीमा से आगे न बढ़ने दें, जहाँ जाकर यह एक बन्धन का रूप ले ले।

यह तो संसार की रीति है। कभी प्रशंसा होती है, कभी चोट लगती है। इसके कारण अगर हम अपने विचारों को, कर्मों को बदलते रहें, तो हम न इस घाट के न उस घाट के। एक बार एक वृद्ध व्यक्ति अपने युवा पुत्र के साथ एक गाँव से दूसरे गाँव जा रहा था। उनका एक घोड़ा भी साथ था। पिता ने अपने पुत्र से कहा, "देखो, रास्ता बहुत लम्बा है, मैं तो जिन्दगीभर पैदल चला हूँ। मुझे तो चलने की आदत है, तुमको चलने की आदत नहीं है, थक जाओगे। अतः तुम घोड़े पर चढ़ जाओ।" पुत्र घोड़े पर चढ़ जाता है और पिता घोड़े की लगाम थामे आगे-आगे चलने लगता है।

थोड़ी दूर के बाद रास्ते में अगल-बगल कुछ गाँव मिलते हैं। कुछ ग्रामीण टिप्पणी करते हैं कि देखो तो सही, एक जवान आदमी घोड़े पर चढ़कर जा रहा है और एक बूढ़ा पैदल चल रहा है; जवान के दिल में थोड़ी भी दया नहीं है कि वह बूढ़े को घोड़े पर बिठा ले और स्वयं पैदल चले। ये बातें पुत्र को सुनायी दीं। उसने पिता से कहा, "पिताजी, आप घोड़े पर चढ़ जाइये, मैं पैदल चलता हूँ।" वे ऐसा ही करते हैं। थोड़ी दूर जाने के बाद फिर कोई टिप्पणी करता है कि देखो न, कितना सुकुमार बालक है और उसका पिता कितना निर्दयी है, स्वयं शान से घोड़े पर बैठकर जा रहा है और अपने सुकुमार बेटे को पैदल चला रहा है। बेचारा लड़का थक गया होगा। तब पिता और पुत्र आपसी वार्ता के पश्चात् एक साथ घोड़े पर चढ़ जाते हैं। कुछ लोगों ने फिर टिप्पणी की कि ये कैसे लोग हैं, घोड़े की जान का तनिक भी ख्याल नहीं करते, दो-दो व्यक्ति

घोड़े पर सवार हो गये हैं। तब वे दोनों घोड़े से उतर गये। इस प्रकार की घटना तो जीवन में हमेशा घटती ही रहती है।

यदि कोई लोक-निन्दा से बचने का प्रयास करे, तो वह उसकी बेवकूफी होगी। लेकिन समभाव को धारणकर अगर मनुष्य सही प्रकार का आचरण करता रहे, तो वह समभाव उसके लिए ढाल का काम करता है। संसार द्वारा फेंके गये पत्थर, कीचड़ और समस्त अस्त्र-शस्त्र को रोकने में वह समर्थ होता है। चिन्तनशील होकर, निन्दा तथा स्तुति के सकारात्मक या नकारात्मक, सुख से पूर्ण या दु:ख से पूर्ण प्रभावों को अपने पास मत फटकने दो। इसी को कहते हैं लोक-व्यवहार। निन्दा-स्तुति में समान रहना लोक-व्यवहार है, धर्माचरण है। जहाँ तक निन्दा और स्तुति का सवाल है, कोई इससे अछूता नहीं रहा है। निन्दा-स्तुति में समभाव को धारण कर, चिन्तन कर, इनके प्रभावों से मुक्त रहो।

'मौनी' के दो अर्थ होते हैं – मौन धारण करने वाला और मननशील या चिन्तनशील। यहाँ पर दोनों अर्थ लागू हो जाते हैं। एक साधक या एक भक्त के जीवन में यह अत्यावश्यक है कि वह अपना समय व्यर्थ की बकवास में न गँवाये, अल्पभाषी बने। आत्म-चिन्तन, आत्म-परीक्षण और चिन्तन-मनन में अपना समय लगाये। मननशील, चिन्तनशील मन के द्वारा जब हम किसी कार्य को करते हैं, तब उस कार्य के साथ विवेक का भाव जुड़ जाता है। अन्धाधुन्ध काम करने की प्रवृत्ति छूट जाती है। यहाँ पर प्रभु का निर्देश है कि तुम सोच-विचार कर विवेकपूर्ण कार्य करते हुए अपने सामर्थ्य का सही उपयोग करो, तभी तुम्हारी साधना, चाहे वह भक्ति-मार्ग की साधना हो या कोई अन्य, सफल हो पायेगी।

'संतुष्टो येनकेनचित्' – सन्तुष्ट रहो, सन्तोष को बनाये रखो, हर हाल में अलमस्त रहो। किसी भी परिस्थिति में चिन्ता नहीं करना, घबराना नहीं, भयभीत नहीं होना। अगर तुम किसी परिस्थिति में घबरा जाते हो, भयभीत हो जाते हो, चिन्ता करने लगते हो तो उससे असन्तोष का भाव उत्पन्न होगा। असन्तोष को उत्पन्न नहीं होने दो, क्योंकि असन्तोष निश्चित रूप से पतन का कारण होता है। यह बात तो पहले भी कही गयी है, *'संतुष्ट: सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चय:।'* सन्तोष एक ऐसी स्थिति का नाम है, जिसमें मन की सभी द्वन्द्वात्मक अवस्थाओं पर आत्मा का नियन्त्रण हो जाता है। मनुष्य की वृत्तियाँ और कर्म उसकी बुद्धि से प्रेरित नहीं होते, आत्मा के अधीन हो जाते हैं। आत्मा ही विचारों, भावों और कर्मों को प्रेरित करती है।

'अनिकेत:' का सामान्य अर्थ होता है, वह व्यक्ति जो निवास की चिन्ता, वास स्थान की चिन्ता से मुक्त रहे। घर का त्याग करने वाला मनुष्य अनिकेत नहीं होता है। अगर किसी को कहा जाये कि तुम अनिकेत हो जाओ, तो वह सोचेगा कि हमें घर छोड़ने के लिए कह रहे हैं या घर की चिन्ता नहीं करने के लिए कह रहे हैं। गीता के अनुसार अनिकेत का अर्थ होता है आश्रयरहित होना। मनुष्य को किसी पर आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं है, उसे स्वावलम्बी बनना चाहिए। स्वयं पर, अपने सामर्थ्य पर विश्वास करना चाहिए, दूसरों पर भरोसा नहीं। दूसरे के बल पर नहीं जीना, स्वयं अपने पैरों पर खड़े होने की क्षमता प्राप्त करनी चाहिए। व्यक्ति अनिकेत अवस्था को प्राप्त कर अष्टसिद्धि, नवनिधि का स्वामी बन जाता है, इसमें कोई संशय नहीं हैं।

बाह्य, भौतिक सम्पन्नता, समृद्धि एवं सिद्धि की कामना तो प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में करता है। लेकिन उसमें सामर्थ्य नहीं कि वह अपनी शक्ति से जीवन और संसार का सामना कर सके। जीवन की एक ठोकर से आदमी बेहोश होकर गिर जाता है। संसार की मात्र एक चोट से वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, चाहे वह कितना ही सम्पन्न और समृद्ध क्यों न हो, क्योंकि हमारे भीतर आश्रित रहने की प्रवृत्ति है। पत्नी पति पर, पति पत्नी पर, बच्चे माता-पिता पर और माता-पिता सन्तानों पर आश्रित हैं। परिवार समाज पर, समाज देश पर और देश समाज पर आश्रित है। यह तो एक अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसी कारण अगर हम कुछ करना चाहें, तो दस बार सोचते हैं कि दूसरे लोग क्या कहेंगे। उनकी क्या प्रतिक्रिया होगी। अरे! इच्छा करते हो तुम, सोचते हो तुम, करना चाहते हो तुम, लेकिन ख्याल करते हो कि दूसरे लोग क्या कहेंगे? मनुष्य चाहते हुए भी कुछ नहीं कर सकता, सिर्फ यह सोचकर कि दूसरे लोग मुझे बुरी दृष्टि से, हेय दृष्टि से देखेंगे, मुझ पर हँसेंगे या मुझे गाली देंगे। यह कौन-सा तरीका है कि हमारे विचार, कर्म इच्छायें दूसरों के दृष्टिकोण तथा विचार पर निर्भर रहें?

जब साधक को अपनी शक्ति और सामर्थ्य का ज्ञान होता है, तभी वह जीवित है। संसार तो मृत तुल्य है। जो लोग इस प्रकार सोचते हैं, वे ही कुछ कर पाते हैं, दूसरे लोग नहीं। उन्हें किसी पर भी आश्रित होने की आवश्यकता नहीं है। यह पुरुषार्थ की सर्वोत्तम अवस्था है। इसलिये प्रभु कहते हैं कि अनिकेत हो जाओ, गीता के भाव में इसका अर्थ है आश्रय रहित होना।

'स्थिरमति' शब्द अनेक रूपों में पहले भी आ चुका है – *'मय्यावेश्य मनो ये मां'* के रूप में, *'निवसिष्यसि मय्येव'* के रूप में और यहाँ स्थिरमति के रूप

में। स्थिरमति का मतलब है स्थिर बुद्धि वाला। दैनिक जीवन में स्थिर बुद्धि प्राप्त करना आवश्यक है। गाड़ी चलाते समय अगर आदमी की बुद्धि चञ्चल हो जाये, सड़क पर उसका ध्यान न रहे, तो क्या होगा? दुर्घटना हो जायेगी। इसलिये सबसे पहले चित्त की चञ्चलता को समाप्त करके स्थिर बना देना है।

एक कहावत है, *'एकहि साधे सब सधे, सब साधे सब जाये।'* कहने का मतलब है कि दुनिया बहुरंगी है, इच्छायें बहुरंगी हैं, कर्म और ज्ञान के भी अनेक रूप, अनेक रंग हैं। संसार में जितने भी अनुभवगम्य विषय हैं, वस्तुयें हैं, पदार्थ हैं, वे सभी बहुरंगे हैं। चञ्चल चित्त में भटकना होता है। कभी हम सोचते हैं कि मेरे लिए पूजा के अतिरिक्त दूसरा कोई रास्ता नहीं है। इतने में दूसरा रंग दिखलायी देता है और हम सोचने लगते हैं कि अब मात्र जप ही करना चाहिए। फिर कोई तीसरा रंग दिखलायी देता है, चलो सत्संग ही करें। इस प्रकार हम लोग हमेशा चञ्चल रहते हैं। किसी एक विचार का पूर्ण रूप से अनुभव नहीं कर सकते, साध नहीं सकते हैं। कोई व्यक्ति एक ही साथ जीवविज्ञानी, रसायन-शास्त्री और दर्शन शास्त्री नहीं हो सकता। अर्थात् उसे एक ही मार्ग पर चलना है। एक मार्ग पर चलने से वह सध जाता है, उस मार्ग में निपुणता प्राप्त हो जाती है। अगर कोई चाहे कि मैं परमाणु वैज्ञानिक होने के साथ-साथ वेदान्ती और अभियन्ता भी हो जाऊँ, तो यह कैसे सम्भव है? इसलिए भक्त या साधक के लिए स्थिरमति होना अति आवश्यक है।

तेरहवें से उन्नीसवें श्लोक तक प्रभु ने उपगुणों की चर्चा की है। जो साधक या भक्त इन गुणों से युक्त हैं, वे ही प्रभु के प्यारे होते हैं।

अब सम्पूर्ण बारहवें अध्याय पर एक विहंगम दृष्टि डालें। इस अध्याय के प्रथम श्लोक में अर्जुन ने भगवान् से प्रश्न किया कि सगुण और निर्गुण उपासकों में कौन श्रेष्ठ हैं? दूसरे श्लोक में भगवान् बतलाते हैं कि साकार उपासक श्रेष्ठ होते हैं और वे अपने चित्त को मुझमें लीन कर सकते हैं। तीसरे और चौथे श्लोकों में प्रभु ने निराकार उपासकों के बारे में कहा कि वे भी अपनी उपासना के द्वारा मुझे प्राप्त कर सकते हैं। पाँचवें श्लोक में बतलाया गया कि निराकार उपासक को अनेक कठिनाइयों से गुजरना पड़ता है, क्योंकि सामान्य रूप से यह सम्भव नहीं कि मनुष्य अव्यक्त में अपने चित्त को तत्काल केन्द्रित कर सके। साथ ही साथ उपासना के मार्ग में देहाभिमान एवं 'मैं' का अभिमान एक बहुत बड़ी बाधा के रूप में सामने आते हैं, जिसको निर्मूल करना, समाप्त करना कठिन है।

छठे और सातवें श्लोकों में उन्होंने बतलाया है कि साकार उपासकों को मुझे प्राप्त करने में कम समय लगता है। आठवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें श्लोकों में प्रभु उपासना के विभिन्न मार्ग बतलाते हैं। एक साधक अपनी प्रवृत्ति के अनुसार, अपनी क्षमता के अनुसार जिस मार्ग का भी चयन करे, वह उसके लिए उपयुक्त हो सकता है। बारहवें श्लोक में साधना-क्रम की चर्चा होती है। पहले अभ्यास, अभ्यास की परिणति ज्ञान में, ज्ञान की परिणति ध्यान में और ध्यान की परिणति कर्मफल त्याग में होनी चाहिए। यह अभ्यास में पायी जाने वाली विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है। उसके बाद तेरहवें से उन्नीसवें श्लोक तक भक्त के लक्षणों की चर्चा करते हैं। प्रभु कहते हैं कि जो भक्त शान्ति तथा मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी होते हैं, उनके जीवन में मानवीय गुणों का, लक्षणों का होना अनिवार्य है। ये लक्षण हमारी उपलब्धियों के द्योतक हैं। अगर किसी आदमी को तैरना नहीं आता और आत्मविश्वास भी न हो, तो वह थोड़ी गहराई में ही डूब सकता है। पानी में प्रवेश कर तैरने का प्रयास करने के पूर्व उसके भीतर आत्मविश्वास का होना आवश्यक है, ठीक इसी प्रकार शान्ति तथा मोक्षावस्था को प्राप्त करने के पूर्व जीवन में इन लक्षणों का होना आवश्यक है।

अर्जुन के मन में एक शंका उत्पन्न होती है, और वह प्रभु से कहता है – आप के अनुसार साकार से युक्त उपासक आप में ही युक्त हैं और निराकार के उपासक भी प्रिय हैं, तो युक्त और प्रिय में क्या अन्तर है? आपने दो विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया है। आप यह भी कह सकते थे कि साकार उपासक और निराकार उपासक दोनों मुझे प्रिय हैं। यह भी कह सकते थे कि साकार उपासक मुझे प्रिय हैं, निराकार उपासक मुझे प्रिय हैं, और दोनों ही मुझमें युक्त हैं। लेकिन आपने जो भेद किया, उसमें क्या रहस्य है? प्रभु समझाते हैं कि उपासकों में तुलना मत करो। तुमने ही मुझसे पूछा था कि दोनों में कौन उत्तम है। अपने उत्तर में मैंने यह नहीं कहा कि साकार उत्तम है या निराकार उत्तम है। मैंने दोनों को समान माना है, क्योंकि जो मुझमें युक्त होते हैं, वे मुझे प्रिय हैं, और जो मुझे प्रिय हैं, वे मुझमें युक्त हैं।

एक समान प्रकृति वाले दो व्यक्ति आपको नहीं मिलेंगे। सभी लोग जीवन में अपनी प्रकृति के अनुसार ही एक मार्ग का चयन करते हैं, चाहे वह साकार हो, चाहे निराकार हो। जो उस मार्ग के नियमों का पालन करते हुए आगे बढ़ता है, वह मुझे प्रिय है। इसीलिए मैंने साकारोपासक को भी उत्तम और प्रिय माना

है और निराकार उपासक को भी उत्तम और प्रिय माना है। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए कोई ऐसी विधि नहीं है, जिसे मैं उत्तम या निम्न कहूँ, क्योंकि साधक जिस मार्ग से भी आये, मेरी तरफ ही आने का प्रयास कर रहा है। चूँकि वह इस दिशा में प्रयत्नशील है, अत: मैं उसी मार्ग को स्वीकार कर लेता हूँ। जो मुझे श्रद्धाभाव से, नित्य युक्त भाव से, प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, वे सभी मेरे लिए प्रिय हैं।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥20॥

अर्थ

और जो (व्यक्ति) मुझमें श्रेष्ठता से लीन हो, श्रद्धापूर्वक पहले कहे गये धारण करने योग्य अमृत, अर्थात् अविनाशी की उपासना करते हैं, वे भक्तगण मुझे बहुत अधिक प्रिय हैं।

व्याख्या

'धर्म्यामृत' में धर्म और अमृत दो शब्द हैं, जिसका मतलब होता है धारण करने योग्य अमृत और *'पर्युपासते'* का मतलब होता है उपासना करता है। धारण करने योग्य अमृत के उपासक। *'यथोक्तं'*–जैसा कि पहले कहा गया है। जो मुझमें परायण हैं और श्रद्धा से युक्त होकर पहले कहे गये धारण करने योग्य अमृत की उपासना करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। पहले जो कहा गया का मतलब है पूर्व के श्लोकों में प्रभु ने जो निर्देश दिये हैं। तेरहवें मन्त्र के *'अद्वेष्टा सर्व भूतानां मैत्र: करुण एव च'*, उन्नीसवें मन्त्र के *'अनिकेत: स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियोनर:'* के अनुसार जब मनुष्य चलने लगे, तब वह धर्म रूपी, धारण करने योग्य अमृत का अधिकारी या सनातन शिक्षा का उपासक होता है।

जिस प्रकार से अग्नि में चाहे घी डालें, गोबर डालें या चन्दन डालें, या नीम की लकड़ी डालें– सभी जलकर राख का रूप धारण कर लेती हैं, ठीक उसी प्रकार प्रभु के उपासक, चाहे वे गोबर के, घी के, नीम के या चन्दन के हों, प्रभु के निकट पहुँच कर प्रभुमय हो जाते हैं। उनका कोई अलग अस्तित्व नहीं रहता। प्रभु ने ऊँच-नीच का भाव या उत्तम-मध्यम-निम्न कोटि का भाव कहीं पर प्रदर्शित नहीं किया है। यह उनकी विशेषता है।

मनुष्य को संसार-सागर में तैरना सीखना पड़ेगा, क्योंकि ज्ञान की अपनी एक सीमा होती है और अनुभव का भी अपना महत्त्व होता है। बौद्धिक स्तर से अगर हम ईश्वर को जानने का प्रयत्न करेंगे तो सफलता नहीं मिलेगी। अनुभव के स्तर पर उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करें, तो सफलता अवश्य प्राप्त होगी। जब तक अनुभव मनुष्य के जीवन में नहीं रहता तब तक वह कितना ही बड़ा विद्वान् या ज्ञानी क्यों न हो, स्वयं को बचा नहीं सकता।

एक नाव में एक विद्वान् प्रोफेसर सवार हुए और नाविक से कहा कि मुझे उस पार ले चलो। नाविक नाव में उन्हें ले चला। प्रोफेसर उससे बातें करने लगे, तुम कहाँ तक पढ़े हो, क्या जानते हो, इत्यादि। नाविक ने कहा कि मैं अँगूठा छाप हूँ तथा अन्य प्रश्नों के बारे में भी अपना अज्ञान एवं अनभिज्ञता जाहिर की। इस पर प्रोफेसर ने कहा कि तुम्हारी तीन चौथाई जिन्दगी बेकार हो गयी। इतने में बीच धार में नाव में पानी भरने लगा। नाविक ने देखा कि अब तो बचाना मुश्किल है। उसने प्रोफेसर से पूछा कि महाराज क्या आपको तैरना आता है। प्रोफेसर ने उत्तर दिया, नहीं। इस पर नाविक कहता है कि तब तो आपकी पूरी जिन्दगी गयी।

मनुष्य के पास ज्ञानरूपी धन कितना ही क्यों न हो, जब तक उसके जीवन में अनुभव प्राप्त करने का सामर्थ्य नहीं, क्षमता नहीं, तब तक वह स्वयं को तार नहीं सकता। प्रभु का तात्पर्य यही है कि अमृताष्टक का अध्ययन करके तुम तैरना सीखो।

इसके बाद पुन: अर्जुन से कहते हैं कि मेरी एक प्रतिज्ञा भी है, जो मैंने रामावतार में की थी –

सन्मुख होहिं जीव मोहिं जब ही ।
जन्म कोटि अध नासौं तबहीं ॥

जब जीव मेरे सामने आ जाता है, मेरे प्रति अभिमुख होता है, तब उसके कोटि-कोटि जन्मों के पापों का नाश कर मैं उसे अपना लेता हूँ, यही मेरी प्रतिज्ञा है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि जो श्रद्धालु उपासक मुझमें परायण होकर इस धर्म शिक्षा से ओत-प्रोत अमृतमय सन्देश की उपर्युक्त तरीके से उपासना करते हैं, वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।











पंचदश अध्याय

विषय प्रवेश

गीता के पन्द्रहवें अध्याय का विषय जितना गूढ़ है, उतना ही अद्भुत भी। इसका प्रमाण यही है कि अध्याय के अन्तिम श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–"यह जो विद्या मैंने तुम्हें सिखायी है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, तथा इसे जो तत्त्व से जान लेता है, वह बुद्धिमान् कृतकृत्य हो जाता है।" आदमी कृतकृत्य कब होता है? जब, जो करणीय है उसे सम्पन्न कर लेता है। मानव जीवन का लक्ष्य है उस अन्तिम सत्य का साक्षात्कार। उसे परमात्मा का दर्शन कह लो, भगवत्प्राप्ति कह लो, मोक्ष कह लो अथवा जो चाहे कहो। अत: इस अध्याय की चर्चा करना या समझ लेना सर्वथा सरल नहीं है।

अद्वैत दर्शन की मान्यता है कि वह परमात्मा, परम चेतना या परम सत्ता ही समस्त सृष्टि का कारण है। सृष्टि के जितने भी अनुभवगम्य विषय, विचार, दृश्य या पदार्थ हैं, वे सरिता के प्रवाहमान जल के तटवर्ती वृक्षों के प्रतिबिम्ब के सदृश ही हैं, जिनका अस्तित्व न होने पर भी वास्तविक से लगते हैं। परन्तु संसार में, सृष्टि में जो विविधता दिखायी पड़ती है, उसका क्या कारण है? अब वह एक चेतना एक पदार्थ के ही आवरण में आकर इतनी विविध कैसे हो जाती है? इसका समाधान चौदहवें अध्याय में आया है कि त्रिगुण–सत्, रजस् और तमस् के प्रभाव से यह विविधता आती है, जो सत्य नहीं होने पर भी वास्तविक-सी प्रतीत होती है।

इस विविधता के आवरण में छिपे उस एकमात्र सत्य को प्राप्त कैसे करें, अपने भ्रमित मन को उसकी प्रतीति कैसे करायें? चौदहवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में प्रभु कहते हैं कि जो व्यक्ति एकनिष्ठ भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करता है, वह उस त्रिगुण को अवक्रमित कर ब्रह्म को प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, जिस अविनाशी, अमृत, नित्य और अखण्ड एकरस आनन्द का आश्रय मैं हूँ।

गीता तो आत्मोत्थान की साधना है। भगवान् हर कदम पर साधक के पथ को एक-एक दीप जला कर आलोकित करते चल रहे हैं। पथ की बाधाओं, भ्रमों का समाधान करते चल रहे हैं। पन्द्रहवें अध्याय में वे कहते हैं–"यह संसार जो अनित्य है, परिवर्तनशील है, उस अविनाशी अश्वत्थ वृक्ष के समान है, जिसका मूल ऊपर की ओर तथा शाखायें नीचे की ओर हैं।" अश्वत्थ का अर्थ है–जो कल न रहे। तो फिर वह अविनाशी कैसे है? वस्तुत: यह संसार, जो परिवर्तनशील है, किसी दो क्षण एक-सा नहीं रहता, कल की तो बात ही छोड़ दो। परन्तु यह जो परिवर्तन है, उसकी प्रक्रिया में सांतत्य है, निरन्तरता है। इस प्रकार यह परिवर्तन की प्रक्रिया अविनाशी है। सरिता का जल किसी भी क्षण एक स्थान पर नहीं रहता। उसका स्थान परिवर्तन सतत् चलता रहता है। जल के सतत् स्थान परिवर्तन की प्रक्रिया ही सरिता है। अश्वत्थ वृक्ष की जड़ ऊपर है, अर्थात् संसार की जड़ ऊपर है। वृक्ष को पोषण अपनी जड़ से मिलता है और संसार का कारण भी वह परम चेतना है। पर इस संसार वृक्ष की शाखायें क्या हैं? माया प्रेरित वासना और कामनाजन्य कर्मों का जाल, कर्मों के फल प्राप्ति की कामना और वासना का जाल, जिसमें उलझकर प्राणी की गति अधोमुखी होती जाती है। इस भाव से शाखाओं को निम्नगामी और मूल को ऊपर बताया गया है।

इस पूरे अध्याय में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि प्राणी कैसे, किस प्रकार इन शाखाओं के बन्धन से छूटे, और उस स्थान पर पहुँचे, चेतना के उस स्तर पर पहुँचे जहाँ से पुन: लौटना नहीं होता। वह स्थान भी ऐसा है जहाँ न सूर्य का प्रकाश पहुँचता है, न चन्द्रमा और अग्नि का, क्योंकि सूर्य, चन्द्रमा और पृथ्वी में जो तेज है, वह तो उसी परम चेतना का, परमात्मा का तेज है। उसी का अंश सभी प्राणियों में है। वही जीवात्मा शरीर को छोड़ते समय अतृप्त वासनाओं को अपने साथ ले जाती है, जैसे पवन फूलों से उनकी गन्ध को ग्रहण कर लेता है। पुन: वही जीवात्मा नया शरीर धारण कर मन

और इन्द्रियों के माध्यम से अपनी अतृप्त वासनाओं का भोग करती है। और यह क्रम चलता जाता है।

इसी जीवात्मा को क्षर पुरुष कहा गया है इस अध्याय में। यहाँ पुरुष शब्द का प्रयोग सामान्य स्त्री-पुरुष वाले अर्थ में नहीं किया गया है। संस्कृत में पुरुष का अर्थ है– *'पुरी शेते इति पुरुषः'*–जो पुरी में, नगर में शयन करती है, रहती है, वही पुरुष है। यहाँ पुरी से तात्पर्य है इस नव द्वारों वाली देह से और इस नव द्वारों वाली पुरी में निवास करने वाली आत्मा, जीवात्मा ही वह पुरुष है।

इस क्षर, नाशवान पुरुष के अतिरिक्त एक दूसरे पुरुष की भी चर्चा आयी है। वह है अक्षर पुरुष। वही आत्मा इस शरीर में रहते हुए भी जब इस शरीर से अपना तादात्म्य छोड़ देती है, सर्वज्ञ होती है, तब वह अक्षर पुरुष, अविनाशी पुरुष कहलाती है, जो उसकी स्वभाव है। परन्तु भगवान् ने इन दोनों से भी भिन्न पुरुषोत्तम की चर्चा की है और कहा है कि वह क्षर से परे है और अक्षर से भी उत्तम है, वह तीनों लोकों–जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में व्याप्त होकर उनको धारण करता है। उस समय वह न केवल सर्वज्ञ रहता है, वरन् सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् भी रहता है। इसीलिए इस अध्याय का नाम पुरुषोत्तम योग दिया गया है। इस प्रकार यह अध्याय अत्यन्त अद्‌भुत एवं आह्लादकारी है।



॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥1॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥2॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥3॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥4॥
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥5॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥6॥
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥7॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥8॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥9॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥10॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥11॥
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥12॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥13॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥14॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥15॥
द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥16॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥17॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥18॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥19॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥20॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो
नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥



श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥1॥

अर्थ

ऊपर की तरफ जड़ तथा नीचे की तरफ डालों वाला (संसार रूपी) पीपल का वृक्ष अविनाशी कहा गया है, जिसके पत्ते वेद हैं। उसे (संसार रूपी वृक्ष को) जो जानता है (असल में) वही वेदों को जानता है, वही ज्ञान का अनुभव करता है।

व्याख्या

प्रभु कहते हैं कि यह संसार जो तुम्हें दिखता है, जिसका तुम अनुभव करते हो, एक वृक्ष की तरह है। सृष्टि की तुलना एक ऐसे वृक्ष से हो रही है, जिसे अश्वत्थ कहते हैं। दसवें अध्याय में प्रभु अपनी विभूतियों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि वृक्षों में मैं अश्वत्थ हूँ। आजकल हम लोग पीपल को अश्वत्थ नाम से जानने लगे हैं, लेकिन जिस सन्दर्भ में प्रभु कह रहे हैं कि मैं वृक्षों में अश्वत्थ हूँ, उसका मतलब यह है कि मैं वृक्षों में ऐसा महावृक्ष हूँ, जिसकी जड़ें बहुत गहरायी तक गयी हैं। इसलिए अश्वत्थ शब्द का प्रयोग पीपल के लिए नहीं, बल्कि विशाल वृक्ष या महावृक्ष के लिए किया गया है।

अश्वत्थ शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'स्था' धातु से होती है। 'स्था' का अर्थ होता है ठहरना। 'श्वः' का अर्थ होता है आने वाला कल। इस प्रकार

अश्वत्थ का अर्थ होता है–जो कल न रहे, जो कल नहीं ठहरे। अश्वत्थ शब्द को महावृक्ष की संज्ञा देते हुए यह कह सकते हैं कि जो कल न रहे। इसी अश्वत्थ शब्द के साथ अव्यय शब्द भी जोड़ा गया है, जिसका मतलब होता है अविनाशी। कहने का सार यह है कि सृष्टि अनित्य होते हुए भी अविनाशी है। वह अश्वत्थ-रूपी संसार वृक्ष जो कल न रहे, लेकिन वह महावृक्ष है, अविनाशी है। इस वाक्य में संसार की नित्यता और अनित्यता दोनों ही दिखलायी देती हैं।

सांख्य के अनुसार मूलावस्था में प्रकृति अविनाशी है। सांख्य में जो स्थान पुरुष का है, वही स्थान प्रकृति का भी है। प्रकृति मूलावस्था में अविनाशी तथा पुरुष के ही समान स्थिति को धारण करने वाली है। प्रकृति और पुरुष की दो भिन्न-भिन्न अवस्थायें हैं। पुरुष का अपना एक अलग अस्तित्व है और प्रकृति का अपना। पर अलग रहते हुए भी दोनों एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। एक के लिये दूसरे के कर्म सार्थक बनते हैं। प्रकृति के कर्म पुरुष के लिये सार्थक हैं, तथा पुरुष के कर्म प्रकृति के लिये सहायक हैं। जब प्रकृति स्वयं को व्यक्त करती है, परिवर्तनशील बन जाती है, तब अनित्य कहलाती है। एक ही अवस्था में अनित्यता का आभास होता है और उसी अवस्था में सनातनता का भी आभास होता है।

वेदान्त में ब्रह्म और माया की चर्चा होती है। ब्रह्म सनातन सत्ता है और माया उसकी शक्ति है। दोनों की आपसी क्रीड़ा या खेल के समय यह जगत् प्रपंच रूप में, मिथ्या रूप में, अनित्य रूप में, असत्य रूप में दिखलायी देता है। लेकिन जब माया जगत् से हट जाती है, तब वह फिर ब्रह्म में ही समाहित हो जाती है।

इसके बाद कहा गया है *'छन्दांसि यस्य पर्णानि'*–जिसके पत्ते छन्द हैं। अद्वैत और द्वैत वादियों ने छन्द का मतलब लगाया है वेद से और वेद का मतलब लगाया है समस्त ज्ञान से। सभी प्रकार के बाह्य, भौतिक, लौकिक, स्थूल, सूक्ष्म, आन्तरिक और आत्मिक ज्ञान जिसमें समाहित हैं, वह वेदवित् है। संसार के जितने भी अनुभव हैं, वे सब इस संसार वृक्ष के पत्ते हैं। प्राणी के ज्ञान और अनुभव असंख्य एवं असीम होते हैं। जीवन की हर अवस्था में, हर परिस्थिति में स्थूल, सूक्ष्म और कारण–ये तीन प्रकार के अनुभव प्राप्त करने की क्षमता मनुष्य में होती है, लेकिन मनुष्य की सजगता का दायरा संकीर्ण है, जिसके कारण वह स्थूल में सजग रहते हुए भी उसके एक छोटे अंश का ही अनुभव कर पाता है, पूर्ण स्थूल का नहीं। ठीक इसी प्रकार सूक्ष्म, कारण और

तुरीयावस्था का भी आंशिक ज्ञान ही प्राप्त कर सकता है। ज्ञान और ज्ञान के अनुभवों के साक्षात्कार ही इस संसार वृक्ष के पत्ते या छन्द हैं।

'यस्तं वेद स वेदवित्'–जो इस संसार वृक्ष को जानता है, वह वेदों का ज्ञाता है। इसका मतलब यही है कि जो संसार के रहस्य को जानता है, वही ज्ञान का अनुभव करता है, वही ज्ञानी है, वही वेदवित् है।

इस श्लोक में प्रभु कहते हैं कि इस संसार वृक्ष की जड़ें ऊपर और शाखायें नीचे फैली हैं। सभी दर्शनों में कहा गया है कि बीज परमात्मा में निहित है। उस बीज से अंकुर निकलकर धीरे-धीरे पौधे का रूप और बाद में वृक्ष का रूप धारण करता है। इस प्रकार संसार का अव्यक्तावस्था से, परमात्मा के क्षेत्र से बढ़ता हुआ, बदलता हुआ, व्यक्तावस्था में, जीवानुभव में विस्तार होता है। इस संसार की जड़ें परमात्म-अवस्था में हैं, उस परमात्म-अवस्था में पड़े बीज का अंकुर महत् तत्त्व के रूप में निकलता है। महत् तत्त्व का अंकुर ही विकसित होकर सृष्टि का रूप धारण करता है।

दूसरे प्रकार से समझाने के लिये कहा जा सकता है कि जब परमात्मा, ब्रह्म या पुरुष रूपी शुद्ध भूमि में शक्ति, माया या प्रकृति स्वयं को अधिष्ठित करती है, तब उसका स्वरूप बीज का होता है। इसी को वेदान्त में बीज भाव कहते हैं। शक्ति रूपी बीज भाव से जो अंकुर निकलता है, वह है प्रगाढ़ अंधकार का अंकुर, जिसको सुषुप्ति कहते हैं। सुषुप्ति से स्वप्न और स्वप्न से जागृति की स्थिति आती है। अंकुर की स्थिति है सुषुप्ति और स्वप्न तथा जागृति है फल-भाव। चेतना परा से कारण, कारण से सूक्ष्म और सूक्ष्म से स्थूल में परिणत हो रही है। कारण में महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है, बीज भाव से अंकुर फूटता है। वही अंकुर फिर तत्त्वों, गुणों, मनःचतुष्टय और तन्मात्रा के रूप में बदलते हुए अन्त में वृक्ष का रूप धारण करता है। इनके विकास के साथ पदार्थों का भी विकास होता है।

यौगिक मान्यता के अनुसार शक्ति का विकास पृथ्वी तत्त्व पर आकर स्थगित हो गया है। इसी को चक्रों के वर्णन के द्वारा प्रतीकात्मक रूप से समझाया गया है। मानव शरीर में शक्ति के अनेक केन्द्र हैं, जिन्हें चक्रों के नाम से जाना जाता है। कुण्डलिनी योग के अनुसार मस्तिष्क के ऊपरी भाग या ब्रह्मरंध्र में सहस्रार चक्र है, जहाँ शिव-शक्ति का मिलन होता है। यह केन्द्र अनादि, अनन्त तथा परावस्था का द्योतक है। यहाँ शिव और शक्ति, पुरुष और प्रकृति मूल रूप में, एक अवस्था में विद्यमान हैं।

सहस्रार के बाद बिन्दु चक्र का वर्णन होता है, जिस स्थान पर शिखा धारण करते हैं, वह बिन्दु केन्द्र है। बिन्दु ही बीज भाव है। बीज भाव का तात्पर्य है एक इच्छा की उत्पत्ति, एक क्रिया का प्रारम्भ। इस बीज भाव की परिणति होती है आज्ञा चक्र में, जो मध्य मस्तिष्क में भ्रूमध्य के पीछे अवस्थित है। आज्ञा को गुरु तत्त्व का केन्द्र माना गया है। यह व्यक्त एवं अव्यक्त, अपरा एवं परा अवस्थाओं के मध्य स्थित द्वार भी है। आज्ञा में महत् की सृष्टि होती है। आज्ञा चक्र में तीन नाड़ियों, अवस्थाओं या धाराओं की उत्पत्ति होती है, जिन्हें योग की भाषा में इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना कहते हैं। इनका सम्बन्ध तमस्, रजस् एवं सत्त्व गुणों से भी है। इन तीन नाड़ियों का योग शरीर के विभिन्न क्षेत्रों में होता है और इस योग के केन्द्र के साथ अन्य चक्रों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। कण्ठ के पीछे, मेरुदण्ड में विशुद्धि चक्र, जो आकाश तत्त्व का परिचायक है; हृदय के बगल में, मेरुदण्ड में अनाहत चक्र वायु तत्त्व का परिचायक है; नाभि के पीछे, मेरुदण्ड में मणिपुर चक्र अग्नि तत्त्व का परिचायक है; जननेन्द्रियों के पीछे स्वाधिष्ठान चक्र जल तत्त्व का प्रतीक है तथा गुदा द्वार के ऊपर मेरुदण्ड के निचले हिस्से में है मूलाधार चक्र, जो पृथ्वी तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है। आज्ञा से नीचे के चक्रों में पञ्च तन्मात्राओं, पञ्च महाभूतों तथा इन्द्रियों का विस्तार होता है।

कुण्डलिनी योग में इस अव्यय महावृक्ष को इसी रूप में समझाया गया है। अव्यक्त, अनादि शक्ति सहस्रार से नीचे आकर सृजन का कार्य सम्पादित करती है और अन्त में पृथ्वी तत्त्व या पदार्थ को उत्पन्न कर, पदार्थ के भीतर गुप्त, सुषुप्त एवं अदृश्य रूप में स्थित हो जाती है, जिसे योग में कुण्डलिनी के नाम से पुकारा जाता है। सहस्रार चक्र इस महावृक्ष की जड़ है तथा अन्य चक्र इसकी शाखायें हैं। जड़ ऊपर और विस्तार नीचे की ओर है। अगर अपने शरीर को भी एक वृक्ष के रूप में देखें, तो मस्तिष्क जड़ है, हृदय-क्षेत्र तना और हाथ-पैर आदि अंग शाखायें हैं। शरीर की भी जड़ तो ऊपर ही है और विस्तार हो रहा है नीचे की ओर।

प्रथम श्लोक का अर्थ इस प्रकार लगाया जाना चाहिए– *'अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'*–एक महावृक्ष, जो अनित्य होते हुए भी अविनाशी है; *'छन्दांसि यस्य पर्णानि'*–ज्ञान, अनुभव और साक्षात्कार की अवस्थायें जिसके पत्ते हैं; *'ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्'*–जिसकी जड़ें ऊपर और शाखायें नीचे हैं; *'यस्तं वेद स वेदवित्'*–जो इसके रहस्य को जान जाता है, वही ज्ञानी कहलाता है।

ज्यों ही प्रभु इस महावृक्ष की चर्चा समाप्त करते हैं, अर्जुन कहता है कि प्रभु आपने आरम्भ में ही बतलाया है कि यह महावृक्ष एक विशेष प्रकार का वृक्ष है, जिसकी जड़ें ऊपर और शाखायें नीचे हैं। अभी तक आपने जड़ों, शाखाओं और पत्तों की ही चर्चा की है। क्या इसके फूल-फल भी होते हैं, जिनके बारे में आप मुझे बतला सकें? संसार के वृक्षों में तो फूल-फल दिखलायी देते हैं। क्या आपके इस ब्रह्माण्डीय वृक्ष में भी इस प्रकार के रूप दिखलायी देते हैं?

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥2॥

अर्थ

उस (संसार रूपी वृक्ष) की तीनों गुणों के कारण बढ़ी हुई तथा इन्द्रियों को बाँधने की योग्यता रखने वाली कोपलें और शाखायें नीचे की ओर फैली हुई हैं तथा मननशील प्राणियों के लोक में कर्मों के आधार पर बाँधने वाली जड़ें ऊपर की ओर अच्छी तरह फैली हुई हैं।

व्याख्या

प्रभु कहते हैं कि जिस महावृक्ष की चर्चा मैंने की है, वह एक उलटा पेड़ है, जिसकी कुछ शाखायें नीचे की ओर और कुछ ऊपर की ओर जा रही हैं। नीचे तथा ऊपर की ओर जाने वाली डालियों का विकास सत्त्व, रज और तम गुणों के द्वारा हुआ है। उनका पालन-पोषण गुणों के द्वारा किया गया है। जब ये शाखायें मनुष्य लोक में आती हैं, तब आरोही-जड़ रूप में मनुष्य लोक में भी प्रवेश कर जाती हैं। ये जड़ें मनुष्यों को उनके कर्मों के अनुसार बन्धन में डालती हैं। *'विषय प्रवाला:'*–आकर्षण या प्रत्यय विषय हो जाते हैं। उस महावृक्ष में प्रत्ययों के द्वारा चेतना को बाँध कर रखने वाली बहुत-सी डालियाँ और कोपलें हैं।

प्रकृति जब त्रिगुणात्मिका रूप धारण करती है, तब सृष्टि का कार्य प्रारम्भ होता है। मात्र एक गुण से सृष्टि का कार्य प्रारम्भ नहीं हो सकता। जिसे हम सत्त्व गुण के नाम से जानते हैं, वह सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति का

प्रकाशमय स्वभाव है, उसमें प्रकाशशीलत्व है। जिसे रजोगुण कहते हैं, वह प्रकृति का क्रियात्मक स्वभाव है, उसमें क्रियाशीलत्व है। जिसे तमोगुण के नाम से जानते हैं, वह प्रकृति का स्थिति स्वभाव है, स्थितिशीलत्व है।

संसार वृक्ष की ये शाखायें इन गुणों के सहयोग से बढ़ती और सृष्टि को विभिन्न रूप देती हैं। प्रत्येक गुण में एक अहंकार भी निहित रहता है। सत्त्व का अपना अहंकार है, रजस का अपना अहंकार और तमस का अपना अहंकार है। अहंकार का तात्पर्य उस गुण की एक पहचान, एक अस्ति से है।

सत्त्व अहंकार से मन, बुद्धि, चित्त और भेद-भावना की उत्पत्ति होती है। बुद्धि के द्वारा हम जो निर्णय लेते हैं कि यह सत्य है, यह असत्य; भ्रान्ति है, वास्तविकता है; सफेद या काला है; सच्चा या झूठा है; नित्य या अनित्य है, वह भेद-भावना है। अच्छे-बुरे, पाप-पुण्य की भावना की उत्पत्ति सत्त्व के द्वारा होती है। यह भी कह सकते हैं कि मन, बुद्धि और चित्त भेद-भावना का परिणाम हैं। राजसिक अहंकार से तन्मात्राओं–रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श की उत्पत्ति होती है। तन्मात्राओं की उत्पत्ति से उनमें भोग की भावना जुड़ जाती है। यह भोग रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श का होता है। इस प्रकार रजस् अहंकार की परिणति भोग, कामना, इच्छा या अभिलाषा में होती है।

तदुपरान्त तामसिक अहंकार आता है। तामसिक अहंकार से पञ्च महाभूतों–पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश की उत्पत्ति होती है। इन तत्त्वों को तमस् अहंकार से उत्पन्न माना गया है, क्योंकि इनकी अपनी एक अवस्था, अपनी एक स्थिति होती है, वह बदलती नहीं, परिवर्तनशील नहीं है। पृथ्वी तत्त्व भी परिवर्तित नहीं होता, इसकी कुछ पारिभाषित श्रेणियाँ होती हैं। यदि यह अपनी श्रेणी की सीमा से बाहर चला जाये, तो पृथ्वी तत्त्व नहीं कहलायेगा, पदार्थ के बदले प्रति-पदार्थ हो जायेगा। जल का एक रूप, स्वभाव और सीमा है। उसमें परिवर्तन होने से जल के रूप की स्थिति या अवस्था नहीं रहती। तामसिक अहंकार से उत्पन्न पञ्च तत्त्वों में एक ऐसी अवस्था है जहाँ परिवर्तन नहीं होता।

मनोवैज्ञानिक रूप से देखें तो इसे सुरक्षा का भाव कह सकते हैं। अपने जीवन को जिस ढर्रे या ढाँचे में हम ढाल चुके हैं, स्थापित कर चुके हैं, उसको बदलने में बहुत कष्ट होता है। विचारात्मक या भावनात्मक स्तर पर मानव स्वयं को असुरक्षित महसूस करता है। असुरक्षा की यह भावना व्यक्ति के भीतर अति

गहरायी में व्याप्त है। व्यक्ति के ही भीतर नहीं, अपितु यह भावना पूरी सृष्टि में व्याप्त है। इस कारण से व्यक्ति अपने जीवन में परिवर्तन नहीं चाहता। जब हम एक अवस्था में, एक परिस्थिति में रहते हैं, तब उसी में, उसी के अनुरूप हमारी भोग-भावना और भेद-भावना का विकास होता है।

स्थिति-भावना, भोग-भावना और भेद-भावना या त्रिगुणात्मक जल से पोषित इस वृक्ष की शाखायें हैं, जिनमें विषय रूपी कोपलें हैं। जहाँ स्थिति-भाव, भोग-भाव और भेद-भाव रहें, जहाँ इन तीनों प्रकार के अहंकारों का अस्तित्व रहे, वहाँ विषय अवश्य रहेंगे। वे समाप्त नहीं होंगे, बल्कि तीन गुणों के सहयोग से और विकसित ही होंगे।

किसी चीज को देखने, सुनने, सूँघने, स्पर्श करने या उसका स्वाद लेने से उसके प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है। आकर्षण से अभिलाषा की उत्पत्ति होती है और अभिलाषा से फिर कर्म की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार हमेशा नये-नये विषय, नये-नये रूपों में सामने आते रहते हैं, जिन्हें कोपलों के रूप में बतलाया गया है। इनके भी दो रूप हैं–एक का अनुभव इन्द्रियों के द्वारा होता है और दूसरे का मन:चतुष्टय के द्वारा। इन्द्रियों और मन:चतुष्टय के साथ विषयों की पूर्णता एवं प्राप्ति के लिए कर्म जुड़ा हुआ है। फिर जिस प्रकार के कर्म, उसी प्रकार के विषयों की प्राप्ति हमें होती है।

मान्यता है कि उत्तम कर्मों से उत्तम विषयों की प्राप्ति, मध्यम कर्मों से मध्यम तथा अधम कर्मों से अधम विषयों की प्राप्ति होती है। यह तो निश्चित है कि कर्मों के साथ विषय भोग और अभिलाषायें जुड़ी हैं। इसमें कोई अन्तर दिखलायी नहीं देता, कहीं पर विभाजन रेखा दिखलायी नहीं देती, जहाँ यह कह सकें कि कर्म और विषय अलग-अलग हैं, भोग की इच्छा, अभिलाषा और कर्म अलग-अलग हैं। इन्हीं इच्छाओं तथा अभिलाषाओं के अनुसार मनुष्य कर्म करता है और अपने कर्मों के अनुसार ही बन्धन में बन्धता या मुक्त होता है। अगर किसी को प्रेम देते हो, तो प्रेम वापस मिलेगा। यह उत्तम कर्म का उत्तम परिणाम है। यदि किसी की निन्दा करते हो, तो निन्दा प्राप्त होती है। जिस प्रकार के कर्म, वैसी ही गति मनुष्य को प्राप्त होती है। ये वे शाखायें हैं, जो मनुष्य लोक में जड़ का रूप धारण किये हुए है। इस संसार वृक्ष में ऊपर की जड़ें ब्रह्म में हैं और नीचे की शाखायें, जो जड़ रूप धारण किये हुए हैं, कर्म में हैं। एक तरफ ब्रह्म हैं, दूसरी तरफ कर्म, बीच में यह महावृक्ष दोनों तरफ से जुड़ा हुआ है।

जब कर्म की चर्चा हो, तो दो प्रकार के मनुष्यों की चर्चा भी आवश्यक हो जाती है। एक प्रकार के मनुष्यों को ज्ञानी या जानकार कह सकते हैं और दूसरे प्रकार के मनुष्यों को अज्ञानी या नासमझ कह सकते हैं। अज्ञानी, अनजान या नासमझ मनुष्य नहीं जानता कि कर्मों से मुक्ति कैसे मिले, पर ज्ञानी भी नहीं जानता कि कर्मों से मुक्ति कैसे मिले। जिस प्रकार परमात्मा को बुद्धि या ज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता, ठीक उसी प्रकार कर्म को भी बुद्धि के द्वारा नहीं जान सकते। उनका मात्र अनुभव कर सकते हैं। कर्मों की गति का स्वरूप वैसा ही है जैसा ब्रह्म या परमात्मा का है। गीता में भगवान् कहते भी हैं– *'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता:'*–कि कर्म क्या है, अकर्म क्या है, अगर बुद्धिमान् मनुष्य भी इसको जानने का प्रयत्न करे, तो वह चक्कर में पड़ जाता है। दोनों प्रकार के मनुष्यों में अन्तर सिर्फ इतना है कि अनजान कर्म करते-करते कर्म फल के पीछे एक ऐसी गति को, एक ऐसे बन्धन को प्राप्त होता है, जिससे मुक्ति सम्भव नहीं है। एक आशा से दूसरी, दूसरी से तीसरी और तीसरी से चौथी उत्पन्न होती रहती है।

ज्ञानी इतना तो जरूर समझता है कि कर्म से मुक्ति नहीं मिलेगी, क्योंकि कर्म के फल बाहर से देखने में आकर्षक भले हों, लाल-लाल हों, पके हुए हों, किन्तु अन्दर से खट्टे हैं। अत: कर्म फल की आशा का त्याग कर देता है। ज्ञानी जानता है कि फल के पीछे पड़ने से निराशा और असन्तोष की प्राप्ति होगी, इसलिये वह कर्म फल के चक्कर में नहीं पड़ता। जब मनुष्य कर्म फल के चक्कर में पड़ता है, तब त्रिगुणात्मिका प्रकृति के अन्य बन्धन उसे जकड़ते हैं और जब मनुष्य कर्म फल के चक्कर में नहीं पड़ता, तब भी वह त्रिगुणात्मिका प्रकृति के बन्धन में जकड़ा रहता है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के तीन रूप होते हैं–सत्त्व (देवरूप), रजस् (मनुष्य रूप) और तमस् (निम्न रूप)। निम्न योनियों में कुछ भी आ सकता है–मनुष्य, दानव, पशु, कीड़े-मकोड़े आदि। इसका कोई सिलसिला नहीं है। भगवान् ने तो स्पष्ट ही कर दिया है कि कर्मों के आधार पर प्राणियों को विभिन्न लोकों में बाँधा जाता है। लेकिन एक अवस्था में परिवर्तन सम्भव है।

उत्तम कर्म करते हुए सत्त्व अवस्था की प्राप्ति होती है। मनुष्य देव रूप को प्राप्त कर सकता है और उस उत्तम कर्म में फल की आशा का त्याग है। देव रूप है स्वयं में प्रकाशित रूप। इस शब्द की व्युत्पत्ति 'दिव्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है प्रकाशित होना। दूसरे प्रकार के कर्मों में फल के पीछे, अपनी

स्वार्थ-पूर्ति के पीछे भागते हैं, तब हमारी विकास प्रक्रिया उसी सीमा के भीतर आबद्ध रह जाती है। वह विकास-प्रक्रिया इतनी उलझ जाती है कि स्वयं को स्वतन्त्र करने की क्षमता मनुष्य में नहीं रह जाती और वह निम्न अवस्थाओं को प्राप्त करता है।

प्रभु कहते हैं कि संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष की तीनों गुणों के कारण बढ़ी हुई तथा इन्द्रियों को बान्धने की योग्यता रखने वाली कोपलें और शाखायें नीचे-ऊपर फैली हुई हैं। मननशील प्राणियों के लोक में कर्मों के आधार पर बाँधने वाली जड़ें नीचे की ओर अच्छी तरह फैली हुई हैं। यह सुनकर अर्जुन कहता है कि प्रभु आप जिस वृक्ष का परिचय दे रहे हैं, वह अन्य वृक्षों से एकदम भिन्न है। अत: मैं जानना चाहता हूँ कि इस अश्वत्थ वृक्ष को कभी किसी ने देखा या अनुभव किया है? तब प्रभु कहते हैं कि नहीं और वे यह भी कहते हैं कि मेरे नहीं कहने पर चकित नहीं होना, क्योंकि मैं जिस वृक्ष का वर्णन कर रहा हूँ, वह विचित्र होने के साथ-ही-साथ भिन्न प्रकार का भी है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥3॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥4॥

अर्थ

इस संसार वृक्ष का स्वरूप जैसा कहा है, वैसा यहाँ विचारकाल में नहीं पाया जाता, क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त और न इसकी अच्छी प्रकार से स्थिति ही है। इसलिए इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलों वाले संसार रूपी इस पीपल के वृक्ष को दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्र द्वारा काटकर उसके पश्चात् उस परम पदरूप परमेश्वर को भली-भाँति खोजना चाहिए, जहाँ गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसार में नहीं आते और जिस परमेश्वर से इस पुरातन संसार-वृक्ष की प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है, उसी आदि पुरुष नारायण की

मैं शरण में हूँ–इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वर का मनन और निदिध्यासन करना चाहिए।

व्याख्या

अर्जुन के प्रश्न का उत्तर प्रभु तीसरे और चौथे श्लोकों में देते हैं। भगवान् कहते हैं कि इस संसार वृक्ष का जैसा वर्णन मैंने किया है, वैसा रूप इस संसार में उपलब्ध नहीं। किसी ने इसे देखा भी नहीं है। यह वृक्ष विचित्र, अदृश्य और अव्यक्त में विद्यमान है। किसी को नहीं मालूम कि इस वृक्ष का पालन कहाँ से होता है, क्योंकि इसका उत्पत्ति केन्द्र परमात्मा है और परमात्मा का आदि और अन्त नहीं, वह एक सनातन सत्ता है। यह भी कोई नहीं जानता कि इस वृक्ष का अन्त कहाँ होता है, क्योंकि संसार की आयु की तुलना में प्राणी का जीवन क्षण मात्र जैसा है। अगर इस क्षण मात्र जीवन में अनन्त काल के बारे में पता लगाना चाहें, तो सम्भव नहीं है। यह महावृक्ष कहाँ प्रतिष्ठित है, इसकी जड़ें कितनी गहरायी में गयी हैं, इसका भी पता हम नहीं लगा सकते। मतलब यही कि जानने का प्रयत्न बेकार है।

अगर मनुष्य इसी जीवन में संसार को पहचानने का प्रयास करे, तो वह अपने वास्तविक उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर पायेगा। मनुष्य का वास्तविक लक्ष्य है संसार वृक्ष के बन्धन से मुक्त होना और इससे मुक्त होने का एक ही मार्ग है, इसकी जड़ों को काटना। इसकी एक जड़ तो ब्रह्म में स्थित है और दूसरी जड़ कर्मों में। इन दोनों जड़ों में से किसे काटना है? ऊपर की जड़ को काट नहीं सकते, उसे काटने का मार्ग कोई नहीं जानता, पर नीचे की जड़ को काटना सम्भव है। सम्भव का मतलब सरल नहीं, काटने में बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ता है। जड़ काटने के लिए *'शस्त्रेण दृढेन'*, मतलब दृढ़ शस्त्र का प्रयोग करना है। एक मजबूत कुल्हाड़ी चाहिए, साधारण नहीं। कोई भी चीज बिना धार वाले हथियार से काटने से कटती नहीं, क्योंकि उसमें धार ही नहीं है। किसी मजबूत एवं तीक्ष्ण धार वाले शस्त्र के द्वारा कड़ी लकड़ी भी आसानी से कट जाती है। प्रभु यहाँ जिस शस्त्र का नाम लेते हैं, वह ब्रह्मास्त्र या पाशुपतास्त्र के समान ही है, उसका नाम उन्होंने असंगास्त्र दिया है। असंगास्त्र है वैराग्य रूपी तलवार। इसे अनासक्ति, वैराग्य या असंग, कोई भी नाम दे सकते हैं, और वही एक शस्त्र है, जिसके द्वारा इस संसार वृक्ष को काटा जा सकता है, किसी अन्य शस्त्र के प्रयोग द्वारा नहीं।

यहाँ असंग शब्द केवल वैराग्य का समानार्थक नहीं है, क्योंकि वैराग्य भी अलग-अलग प्रकार के होते हैं। कच्चा वैराग्य या मर्कट वैराग्य, पक्का वैराग्य और तीव्र वैराग्य। जब तीव्र वैराग्य से नीचे की जड़ को काटने में मनुष्य सक्षम हो, जब इस संसार रूपी महावृक्ष के कर्म बन्धन को काट दे, तब केवल एक आधार बचा रहता है, ऊपर वाली जड़ का। तब डालियों के सहारे मनुष्य उस ऊपर वाली भूमिका तक पहुँचने में सक्षम हो जाता है। पहले वैराग्य रूपी अस्त्र को तीव्र बनाना सीखना पड़ेगा।

सामान्य रूप से मनुष्य के अन्दर जब वैराग्य होता है, तब उसका प्राथमिक रूप कच्चा रहता है। प्राथमिक वैराग्य केवल एक भाव है, जो किसी परेशानी, व्यथा या दु:ख के कारण उत्पन्न होता है। जैसे ही परिस्थिति अनुकूल हो जाती है, वह वैराग्य समाप्त हो जाता है, त्याग की कोई भावना भी नहीं रहती। पक्का वैराग्य वही है, जो मन की दृढ़ता के साथ उत्पन्न हो। असंगास्त्र के लिए तीव्र वैराग्य होना चाहिए, ऐसा नहीं कि आवश्यकतानुसार वैराग्य में परिवर्तन आ जाये या व्यक्तिगत कामना और इच्छा वैराग्य की प्रबलता को धीरे-धीरे कम कर दे। जब तक व्यक्ति मजबूत, दृढ़ असंगास्त्र से लैस नहीं होता, तब तक इस विशाल पीपल की जड़ों को काटना सम्भव नहीं है।

'अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम्'– यह महावृक्ष अति दृढ़, मजबूत जड़ों वाला है। ये जड़ें, जो कर्मों की मूल हैं, मनुष्य के दु:खों की मूल हैं, इन्हें ही काटना है। दु:ख के मुख्यत: तीन भेद होते हैं–आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक। सामान्य शब्दों में दु:ख का इस प्रकार भी विभाजन कर सकते हैं–शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। शारीरिक दु:ख भी दो प्रकार के होते हैं–व्याधि और जरा। व्याधि या रोग में सभी प्रकार के शारीरिक असन्तुलन एवं विकार सम्मिलित हैं। जरा या बुढ़ापा भी एक प्रकार का रोग है, जिससे मानव पीड़ित हो जाता है, अक्षम हो जाता है, उसकी कार्य करने की क्षमता घट जाती है। व्याधि और जरा शारीरिक दु:ख हैं, जो शरीर के सामर्थ्य को कम करते हैं। जब शरीर का सामर्थ्य कम हो जाता है, तब पूर्ण क्षमतानुसार कार्य करने की इच्छा रहते हुए भी कार्य सम्पादित नहीं होते हैं। इसके परिणामस्वरूप दु:ख, निराशा एवं संताप होता है।

दूसरे प्रकार का दु:ख है मानसिक, जिसमें सभी प्रकार के विषयजनित दु:ख उत्पन्न होते हैं। राग, द्वेष, लोभ और मोह से भी दु:ख उत्पन्न होते हैं। आसक्ति होने के कारण इन वृत्तियों या प्रवृत्तियों से दु:ख, विषाद या शोक

उत्पन्न होते हैं। इनसे मुक्ति पाना हर व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। ये किसी-न-किसी रूप में बड़े से बड़े तपस्वी, त्यागी, साधक और गृहस्थ को भी पीड़ित करते हैं। हर्ष, विषाद, राग और शोक से सभी ग्रस्त होते हैं। अगर किसी महात्मा से पूछा जाये कि उन्हें गुरु के ब्रह्मलीन होने से शोक हुआ था कि नहीं, तो उत्तर मिलेगा कि अवश्य हुआ था। तो मानसिक विषाद या दु:ख स्वाभाविक है। तीसरे प्रकार के दु:ख होते हैं आध्यात्मिक, जिनका सम्बन्ध रहता है मन: चतुष्टय के साथ। अस्मिता, अहंकार के कारण, कर्म तथा संस्कार के कारण जो पीड़ा होती है, वे आध्यात्मिक दु:ख के लक्षण हैं। ये सभी उस संसार रूपी वृक्ष की जड़ें हैं। इसलिए दु:ख के मूल का नाश करना है। प्रभु का निर्देश है कि इस वृक्ष की जो जड़ें मनुष्य-लोक में हैं, वे ही कर्मों के मूल हैं। उनको वैराग्य रूपी तलवार से काटो।

जड़ों को काटने के बाद उस स्थान की खोज में लग जाओ, जहाँ से वापस नहीं लौटना पड़े। जड़ों को काटने के बाद एक ही मार्ग बचता है, ऊपर की ओर चढ़ना। जब मनुष्य ऊपर की ओर चढ़ता है, तब उस अव्यय पद को प्राप्त करता है, जहाँ से फिर लौटता नहीं। जड़ को काटने के बाद एक संकल्प लो कि मैं उस अनादि पुरुषोत्तम को प्राप्त करूँगा, जिससे इस संसार रूपी वृक्ष की उत्पत्ति होती है। जब कर्म के बन्धन टूट जाते हैं, तब एक ही मार्ग बचता है, निवृत्ति का। प्रवृत्ति से जब तुम हटते हो, तब स्वाभाविक रूप से यह संकल्प उत्पन्न होता है कि मेरे कर्म नष्ट हो गये हैं, अब मुझे उस परम पुरुष को प्राप्त करना है, जहाँ से इस संसार वृक्ष का विस्तार हुआ है। यह प्रवृत्ति के बन्धन को काटने का परिणाम है।

शक्ति की धारा को कोई स्थिर कर नहीं सकता, चेतना के सनातन प्रवाह को कोई रोक नहीं सकता। इतना ही किया जा सकता है कि जिस तरफ पानी बह रहा है, उधर बाँध बना दें, रुकावट डाल दें। लेकिन बाँध बनाने के पश्चात् भी पानी स्थिर नहीं रहता। प्रवाहित होने के लिए वह दूसरा मार्ग खोजता है, लौटने लगता है। इसी प्रकार जब वैराग्य रूपी शस्त्र से प्रवृत्ति रूपी जड़ को काट दिया जाता है, तब प्रवृत्ति मार्ग में किसी प्रकार का आकर्षण नहीं रहता। ऐसी स्थिति में शक्ति किस तरफ प्रवाहित होगी? अपने स्रोत की ही तरफ। मार्ग तो सिर्फ दो हैं, सामने या पीछे। दायें-बायें कोई मार्ग नहीं। जब शक्ति पीछे की ओर लौटती है, तब प्राणी भी उस शक्ति की धारा में अपने मूल की ओर लौटता है। वह इस उल्टे पेड़ के तने से ऊपर मूल की ओर चढ़ता है।

ऐसा भी नहीं होता कि मनुष्य विषय रूपी डालियों में छिपे। अगर जीव विषय रूपी डालियों में छिपा रहे, तो एक ही मतलब होगा कि कर्म रूपी जड़ें पूर्ण रूप से कटी नहीं हैं। जब विषयों के आधार कर्म ही नष्ट हो जाते हैं, तब पत्ते अपने आप सूखकर गिरने लगते हैं। मजबूत डालियाँ कमजोर पड़ने लगती हैं और प्राणी तने के सहारे ऊपर की ओर अग्रसर होता है।

योग की भाषा में मेरुदण्ड को तने की उपमा देते हैं, जिसमें चक्रों का अनुभव होता है। वापस लौटने का मार्ग भी वही है। प्रभु कहते हैं कि उस स्थान को खोजो जहाँ से लौटना नहीं पड़े। मतलब यह कि छः चक्रों को पार करते हुए आगे बढ़ना है। मूलाधार में प्रवृत्ति रूपी जड़ को काट कर एक-एक चक्र को पार करते हुए ऊपर चढ़ना है। छठे चक्र, आज्ञा के बाद एक ही मार्ग है। नीचे से तीन मार्ग हैं–प्राण, चित्त और अन्तश्चेतना के मार्ग; पिंगला, इड़ा और सुषुम्ना के मार्ग। किसी भी मार्ग से व्यक्ति ऊपर की ओर जा सकता है। अगर मनुष्य पिंगला या प्राण मार्ग से चढ़े, तो उसके भीतर ऊपर चढ़ने की क्षमता आ जाती है। इड़ा या चित्त मार्ग से भी मनुष्य ऊपर की ओर अग्रसर हो सकता है और सुषुम्ना या अन्तश्चेतना के मार्ग से भी मनुष्य ऊपर की ओर अग्रसर हो सकता है। कर्म बन्धनों के नष्ट होने से ऊपर चढ़ने का सामर्थ्य प्राप्त होता है। भृकुटा में इन तीनों मार्गों का मिलन होता है। फिर एक ही प्रत्यक्ष, सीधा मार्ग बचता है, जो उस अव्यय पद तक जाता है, जहाँ से कोई लौटता नहीं।

इस प्रकार प्रभु अर्जुन से कहते हैं कि संसार वृक्ष के इस रूप को आज तक किसी ने देखा नहीं है। इसकी उत्पत्ति कहाँ होती है, अन्त कहाँ होता है और इसकी स्थिति क्या है, इसे कोई नहीं जानता। इसकी दो जड़ें हैं–एक जड़ परमात्मा में समाहित है और अन्य जड़ें कर्मों में व्याप्त हैं। इतना ही किया जा सकता है कि जो जड़ें कर्म पर आश्रित या आधारित हैं, कर्म में व्याप्त हैं, उन्हें एक मजबूत, धारदार शस्त्र से काट कर प्रवृत्ति-मार्ग से हट कर निवृत्ति-मार्ग की ओर बढ़ा जाए। निवृत्ति मार्ग में बढ़ने से पूर्व या बढ़ते समय एक लक्ष्य को अपने सामने निर्धारित कर लेना चाहिए कि मैं उस परमेश्वर को प्राप्त करूँ। फिर उस लक्ष्य को धारण कर उस अविनाशी पद को प्राप्त करने का प्रयास करना है, जहाँ से फिर कोई लौट कर नहीं आता।

अर्जुन पुनः पूछता है कि आप अपने पद के बारे में कह रहे हैं, जिसमें अवश्य ही कुछ विशेषता होगी। आप यह भी बतला चुके हैं कि यह संसार

महावृक्ष कोई सामान्य वृक्ष नहीं है। तो जो व्यक्ति इस वृक्ष की कर्म-रूपी जड़ों को काटता है और परमात्मा में स्थित जड़ की ओर बढ़ता है, वह व्यक्ति किस प्रकार का होगा? उसकी क्या विशेषतायें होंगी? क्या साधारण मनुष्य भी ऐसा कर सकता है? प्रभु समझाते हैं–वह मानव जिसमें इस प्रकार का सामर्थ्य है, विशेष प्रकार का होता है, साधारण व्यक्ति नहीं।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥5॥

अर्थ

जिनके अहंकार तथा मोह नष्ट हो गये हैं; जिन्होंने आसक्ति तथा अन्य दोषों को जीत लिया है; जो सदा परमात्मा की ओर जाने में प्रयत्नशील हैं; जिनकी कामनायें छूट चुकी हैं; जो सुख तथा दु:ख नामक द्वन्द्वों तथा मोहपाश से पूरी तरह मुक्त हो चुके हैं, ऐसे अमूढ़ व्यक्ति ही उस अविनाशी स्थिति में पहुँचते हैं।

व्याख्या

अर्जुन के पूछने पर कि किस प्रकार का मनुष्य अव्यय पद को प्राप्त करता है, भगवान् बतलाते हैं कि कर्म-बन्धन या कर्म रूपी जड़ों के नाश होने पर मनुष्य का क्या स्वरूप होता है। जब मनुष्य वैराग्य रूपी शस्त्र से कर्म-बन्धन की जड़ों को काट देता है, तब वह उनसे प्रभावित नहीं होता तथा उसके भीतर कर्म के साथ जुड़ी हुई आशा या अपेक्षा नहीं रह जाती। मान, मोह, मद, लोभ, आसक्ति आदि सब का उद्गम स्थान है–कर्म। यदि व्यक्ति के जीवन में कर्म-बन्धन न रहें, तो ये लक्षण भी दिखलायी नहीं देंगे। जब मनुष्य अपने जीवन में पुरुषार्थ और साधना द्वारा उच्च चेतना का साक्षात्कार करता है, तब कर्म-बन्धन वैराग्य रूपी शस्त्र से स्वयं कट जाते हैं।

मान और मोह बोझ हैं, उन्हें उतार फेंकना है। मान और मोह को कैसे फेंके? एक उदाहरण–आप अपना सामान लेकर नाव में कहीं जा रहे हैं। आपका सामान नाव के लिए भारी है, जिसके कारण नाव में पानी भरने लगता

है। उस समय आप क्या करेंगे? सामान को बचाने के लिए अपने को नाव से बाहर फेंक देंगे क्या? नहीं। स्वयं को बचाने के लिए पहले सामान को बाहर फेकेंगे। उस समय यदि कोई व्यक्ति हजारों रुपये का कीमती वस्त्र पहने हुए भी रहेगा, तो उन्हें उतार फेंकेगा और केवल जांघिया पहन कर तैरेगा। अपने पूरे वस्त्रों के साथ नहीं तैरेगा, क्योंकि गीले कपड़े का बोझ उसके तैरने में बाधक होगा। जिस समय जीवन और मृत्यु के बीच खड़े होकर प्राणी अपनी सुरक्षा के बारे में सोचता है, उस समय मान और मोह की चिन्ता नहीं रहती। वही भाव यहाँ प्रभु प्रकट करते हैं कि जब तुम्हारे सामने एक ही लक्ष्य रह जाता है, तब मान और मोह की चिन्ता क्यों? उन्हें फेंको।

मान और मोह को उतार फेंकने के बाद ही अव्यय पद को प्राप्त कर सकते हो। मनुष्य बीबी-बच्चों से अधिक मान और मोह की चिन्ता करता है और उन्हें अपने मित्र या हितैषी मानता है। वास्तव में मान और मोह किसी के मित्र या हितैषी नहीं, बल्कि शत्रु ही हैं। उनका एक ही कार्य है–हमारी पीठ पर लदे बोझ को और भी बड़ा बनाना। इसलिए उस अव्यय, अविनाशी पद को प्राप्त करने के लिए पहली आवश्यकता है–मान और मोह से रहित होना।

'जितसंगदोषा:'–जिसने आसक्ति रूपी दोष को जीत लिया है। आसक्ति को निर्मूल किया जा सकता है, मान और मोह को हटाकर। मान और मोह वस्तुत: आसक्ति की ही बाह्य अभिव्यक्ति है। जब बाह्य अभिव्यक्ति समाप्त हो जाती है, तब उसके जो भी बचे-खुचे अवशेष रहते हैं, भोग के नहीं रहने के कारण प्रकट नहीं हो पाते और धीरे-धीरे लुप्त हो जाते हैं। आसक्ति केवल भौतिक या लौकिक नहीं होती, आध्यात्मिक भी होती है। आसक्ति का जो आध्यात्मिक रूप है, वह मनुष्य की बुद्धि के द्वारा प्रेरित होता है। बुद्धि में तर्क-वितर्क करने की क्षमता है और तर्क-वितर्क के द्वारा ही मनुष्य अपने आप को सन्तुष्ट करता है। तर्क-वितर्क की स्थिति जहाँ हो, वहाँ हृदय की सरलता नहीं रहती, बल्कि एक आलोचनात्मक स्थिति, एक विश्लेषणात्मक स्थिति उत्पन्न होती है, जिसे कहते हैं तार्किक बुद्धि। जब भी मौका मिला, तर्क करने लगे–ऐसा क्यों होता है, वैसा क्यों होता है, ऐसा क्यों नहीं, वैसा क्यों नहीं?

ऐसी ही है अर्जुन की तर्क बुद्धि। हर उत्तर के बाद वह कुछ-न-कुछ पूछता ही रहा है, ऐसा क्यों हुआ, उनके क्या लक्षण हैं, ऐसा क्यों होता है, ऐसा क्यों नहीं होता है, आदि। अर्जुन की वह तर्क बुद्धि हमारी तर्क बुद्धि है, क्योंकि हम समझने का प्रयास कर रहे हैं, लेकिन जिसके अन्दर सरलता है, जो शरणागत

हो चुका है, उसे क्या भगवान् सात सौ श्लोकों में लम्बा प्रवचन देंगे? कदापि नहीं। आसक्ति के आध्यात्मिक रूप में यह तर्क बुद्धि ही बाधा बन कर सामने आ जाती है।

आध्यात्मिक जीवन में भी हमारी अपेक्षाएँ रहती हैं, अच्छे अनुभवों के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाती है; किसी एक रूप के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस कारण कुछ लोग विष्णु को, कुछ लोग दुर्गा को, कुछ लोग कृष्ण को और कुछ लोग किसी और को पसन्द करने लगते हैं, लेकिन रूप के परे भी इनका एक अस्तित्व होता है, जिसे अक्षर अस्तित्व कहते हैं। जब नाम और रूप की आसक्ति समाप्त हो जाए, तब उस समय अक्षर अस्तित्व का अनुभव मनुष्य को होने लगता है। इसलिए आसक्ति का सम्बन्ध केवल मान और मोह से नहीं, बल्कि नाम, रूप और विचार से भी है।

'अध्यात्मनित्या:'–जो हमेशा अध्यात्म चिन्तन में रत रहे। अध्यात्म चिन्तन का मतलब ईश्वर का चिन्तन ही नहीं, बल्कि आत्म-चिन्तन या आत्म-विश्लेषण की अवस्था भी है। सरल भाषा में अध्यात्मनित्य अवस्था के बारे में कहा जा सकता है कि संसार से, जीवन से जुड़ी हुई लाज, शर्म, स्मृतियों, यादों, सुख-दु:ख के अनुभवों से अपने मन को हटा देना और परमात्मा में लगाना या ईश्वर प्रणिधान की स्थिति में अपने आपको रंग देना आध्यात्मिकता की वह अवस्था होती है, जिसमें आत्मा के विषय में हमेशा मनन, चिन्तन होता रहता है, ताकि एक अन्तर्जागृति की स्थिति प्राप्त हो, बहिर्मुखता की नहीं, जिसमें हम भटक जायें। जिस अन्तर्जागृति की अवस्था में हम स्वयं के प्रति, स्वयं की क्रिया और प्रतिक्रिया के प्रति सजग रहें, वही है अध्यात्म चिन्तन।

'विनिवृत्तकामा:'–सभी कामनाओं से निवृत्ति। *'द्वन्द्वैर्विमुक्ता: सुख-दु:खसंज्ञै: गच्छन्त्यमूढा: पदमव्ययं तत्'*–जब सतत् अध्यात्म चिन्तन होने लगे, जब आत्म-विश्लेषण की स्थिति आ जाये, आत्म-परीक्षण और निरीक्षण की अवस्था आ जाये, तब मनुष्य कामना मुक्त हो जाता है, भेद-भाव से परे हो जाता है। फिर उसके भीतर वैराग्य अवस्था से जुड़ी हुई एक दूसरी शक्ति का, विवेक का उदय होता है। विवेक के द्वारा मनुष्य को अव्यय पद की प्राप्ति सम्भव होती है।

श्लोक का सार यही है कि अव्यय पद को प्राप्त करना हो, तो संसार वृक्ष के बीच में कहीं पर लटकना, अटकना और फँसना नहीं। अगर बीच में कहीं

पर लटक जाते हो, अटक जाते हो या फँस जाते हो, तो पुनः निकलना सम्भव नहीं है। वृक्ष की जड़ें फिर से फैलने लगेंगी। जड़ों का तो यह स्वभाव है। वृक्ष का स्वभाव है बढ़ना। वह बढ़ कर फिर घटता नहीं है, बड़ा होकर, बीज अवस्था से बढ़ कर, वृक्ष रूप धारण करके पुनः वह बीज रूप में प्रवेश नहीं करेगा। उस वृक्ष से असंख्य बीज भले ही निकलते जायें, लेकिन आदि बीज, जहाँ से वृक्ष का जन्म और विस्तार हुआ है, वह तो हमेशा वृक्ष को फैलाता ही रहेगा। इसलिए प्रभु व्यक्ति की विशेषता पर ज्यादा जोर देते हैं। कहते हैं कि साधारण व्यक्ति अव्यय पद को प्राप्त करने में समर्थ नहीं है। यह वही कर सकता है जो किसी बन्धन या मोह-पाश से बँधा हुआ नहीं है और जिसकी चेतना विकसित हो उठी है।

अब योग के अनुसार भी इस प्रक्रिया को समझ लें। पूर्व में छः चक्रों की चर्चा कर चुके हैं। मूलाधार में मान और मोह की अनुभूति होती है। मूलाधार एक बाह्य अवस्था का, शक्ति की बहिर्मुखता का प्रतीक है। शक्ति की बहिर्मुखी अवस्था है पदार्थ में अभिव्यक्ति। इस अवस्था में मान और मोह प्रबल रूप से विद्यमान रहते हैं। सर्वप्रथम उन्हें समाप्त करना है। दूसरे चक्र, स्वाधिष्ठान में आसक्ति है। यह आसक्ति अचेतन है। स्वाधिष्ठान स्वयं में अचेतन का प्रतीक है। स्वाधिष्ठान के सभी तत्त्व अचेतन हैं। तृतीय चक्र, मणिपुर में मनुष्य का नया जन्म अध्यात्म पुरुष के रूप में होता है।

कुण्डलिनी अनेक बार जाग्रत होने के पश्चात् भी पुनः-पुनः निद्रावस्था को प्राप्त हो जाती है, सो जाती है। जब तक वह मणिपुर चक्र को पार नहीं करती, तब तक इस सुषुप्ति की सम्भावना बनी रहती है। एक बार जब कुण्डलिनी मणिपुर चक्र में आ जाती है, तब फिर उसकी वापसी नहीं होती, अधोगमन नहीं होता। वह निरन्तर ऊर्ध्व मार्ग में आगे बढ़ती जाती है। इसी तथ्य को अध्यात्म-चिन्तन या अध्यात्म पुरुष का जन्म कहा गया है।

मूलाधार में मान-मोह से मुक्ति, स्वाधिष्ठान में आसक्ति और अचेतन तत्त्वों से मुक्ति और फिर मणिपुर में अध्यात्म पुरुष का जन्म होता है। इस अवस्था के बाद मार्ग अधिक स्पष्ट हो जाता है। चौथे चक्र अनाहत में मनुष्य आप्तकाम बन जाता है। अध्यात्म पुरुष निष्काम पुरुष हो जाता है; *'विनिवृत्तकामाः'* – जिसने अपनी कामनाओं को वश में कर लिया हो। पाँचवें चक्र विशुद्धि में मनुष्य निर्द्वन्द्व हो जाता है, सभी प्रकार के भेद-भाव समाप्त हो जाते है और छठे चक्र, आज्ञा में अमूढ़ की स्थिति या अन्तर्ज्ञान की अवस्था आ जाती है।

ये छः चक्र छः स्टेशन हैं। जैसे-जैसे कर्म-बन्धन से हमें मुक्ति मिलेगी, उपर्युक्त अवस्थायें एक-एक करके प्राप्त होंगी। प्रभु के कहने का तात्पर्य है कि इन छः गुणों से मुक्त लोग ही कर्म-बन्धन से मुक्त हो सकते हैं। जब तक इसके लिये प्रयास नहीं किया जाएगा, कर्म-बन्धन से मुक्ति सम्भव नहीं है। अतः वैराग्यरूपी शस्त्र को धारण करना है, एक लक्ष्य को अपने सामने रखना है और विवेक का सहारा लेकर इस मार्ग में आगे बढ़ना है। तब ही उस अविनाशी पद या अव्यय पद की प्राप्ति होती है।

अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में प्रभु बतलाते हैं कि ऐसा व्यक्ति, जिसके भीतर न मान है न मोह, जो आसक्ति रहित है, जो हमेशा अध्यात्म चिन्तन करता है, कामनाओं से मुक्त है, द्वन्द्वों से परे है और जिसे सुख-दुःख का ज्ञान है, अर्थात् जो सभी प्रकार के भेद-भाव से मुक्त होकर सामान्य जीवन में अनुभव किये जाने वाले सुख-दुःख में सम-भाव धारण करता है और बन्धन में नहीं रहता, वही अविनाशी पद को प्राप्त करता है।

परन्तु अर्जुन पुनः पूछता है कि वह अविनाशी पद, जिसके बारे में आप इतना कह रहे हैं, किस प्रकार का है, कहाँ पर है, उसका स्वरूप कैसा है?

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥6॥

अर्थ

उसे (स्थिति को) न सूरज प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और न सबको पवित्र करने वाली अग्नि ही, (क्योंकि वह स्वयं प्रकाशित है और इन सबको भी प्रकाशित करती है)। वह ऐसी स्थिति है, जिसे प्राप्त कर कोई लौटता नहीं है, (क्योंकि वह उसी के साथ एकाकार हो जाता है); वैसी स्थिति में पहुँच जाना ही मुझे प्राप्त कर लेना है, (क्योंकि वह स्थिति मैं स्वयं हूँ)।

व्याख्या

भगवान् कहते हैं–मेरा जो लोक या धाम है, वह साधारण स्थान या लोक की तरह नहीं, असाधारण है; उसकी कोई उपमा नहीं, कोई उसका वर्णन नहीं कर सकता।

धाम का मतलब होता है स्थान। सामान्य रूप से संसार में जिस स्थान को भी हम धाम का नाम दें, चाहे वह इस सृष्टि या कर्म भूमि में कहीं पर भी हो, नाशवान ही होगा। सृष्टि के विकास में चार धामों का वर्णन आता है और प्रभु का धाम पाँचवाँ है। जीव अपने विकास-क्रम में सबसे पहले मूढ़-धाम को प्राप्त करता है, उसके बाद क्रमशः मनुष्य-धाम, देव-धाम और ब्रह्म-धाम को प्राप्त करता है। पाँचवाँ है यह अविनाशी, अव्यय धाम। मनुष्य इन चारों धामों की यात्रा करता है, इन चारों अवस्थाओं से गुजरता है।

इस संसार में कुछ लोग केवल मूढ़-धाम की यात्रा करते हैं। कुछ मूढ़-धाम और मनुष्य-धाम की यात्रा करते हैं, कुछ देव-धाम को भी प्राप्त करते हैं, तो कुछ ब्रह्म-धाम को भी अपनी यात्रा में जोड़ देते हैं। कुछ लोग तो कहीं की भी यात्रा नहीं कर पाते, जिस अवस्था में हैं, उसी अवस्था में पड़े रहते हैं।

मूढ़-धाम में वह निम्न अवस्थाओं या स्थितियों का अनुभव करता है। मूढ़-धाम है सुषुप्तावस्था या अज्ञानावस्था। अज्ञान की पराकाष्ठा मूढ़-धाम में होती है। अज्ञान या तमस् में मात्र स्थिति और स्वरूप का आभास होता है। वहाँ पर किसी प्रकार की क्रिया, इच्छा या संकल्प नहीं है, सिर्फ गहन अन्धकार है।

मनुष्य लोक में सूर्य, चन्द्र और अग्नि, तीनों के प्रकाश मिलते हैं। देव-धाम में सूर्य और चन्द्र का प्रकाश रहता है और ब्रह्म-धाम में केवल चन्द्र का। अन्तिम धाम, अव्यय या ईश्वर धाम में इनका प्रकाश नहीं रहता है। सूर्य प्राणशक्ति का, चन्द्रमा मनःशक्ति का और अग्नि बुद्धि एवं वाणी के द्योतक हैं। मनुष्य धाम ही एक ऐसा धाम है जहाँ पर प्राणशक्ति, चित्तशक्ति और बुद्धि की पहुँच रहती है। यह सम्पूर्ण सृष्टि इन तीनों के द्वारा प्रकाशित होती है। सृष्टि के सभी पदार्थों को इन तीनों के द्वारा जीवन की प्राप्ति होती है। यौगिक दृष्टिकोण से देखें, तो पदार्थ प्राणशक्ति की परिणति है और प्राणशक्ति की उस स्थिति में चेतना का भी एक अंश रहता है। मनश्चेतना की उस अवस्था में, जो अन्तर्विकास की प्रक्रिया है, उसमें बुद्धि की अनुभूति व्याप्त है। ये तीनों शक्तियाँ–प्राणशक्ति, मनःशक्ति और बुद्धि शक्ति, जिन्हें सूर्य, चन्द्र और अग्नि के नाम से जाना गया है, बृहत् ब्रह्माण्डीय शक्तियाँ हैं। इनके साथ अणु ब्रह्माण्डीय शक्तियाँ भी सक्रिय हैं। इस व्यक्त जगत् में मनुष्य का जीवन इन तीनों शक्तियों के अधीन रहता है।

मनुष्य लोक या मनुष्य धाम के पश्चात् देव लोक की प्राप्ति होती है। देव लोक चेतना की एक उच्च अवस्था है। वहाँ पहुँचने के पूर्व व्यक्ति के भौतिक

विकार, बहिर्मुखी वृत्तियाँ और कामनायें समाप्त हो जाती हैं। एक नयी विस्तृत चेतना के साथ साधक उस दिव्य अवस्था को प्राप्त करते हैं, जिसमें ज्ञान की अनुभूति बाह्य रूप में नहीं, बल्कि आन्तरिक रूप में होने लगती है। उन अवस्थाओं में प्राण का विस्तार, नियन्त्रण तथा उत्थान होता है। प्राणशक्ति की जागृति से मनुष्य जीवन में, चेतना की स्थिति में परिवर्तन होते हैं, जो स्थूल से सूक्ष्म जागरण की स्थिति ला देते हैं। बाह्य बुद्धि समाप्त हो जाती है और आन्तरिक अनुभव की अवस्था जाग्रत हो जाती है। इसलिए कहा जाता है कि देव लोक में, जहाँ सभी प्राणी प्रकाशित हैं, उनमें शक्ति रहती है, सामर्थ्य रहता है, वहाँ मात्र प्राण प्रकाशित रहता है।

देव लोक के बाद है ब्रह्म लोक। वहाँ केवल चन्द्रमा का प्रकाश रहता है। ब्रह्म लोक इस सृष्टि का उत्पत्ति केन्द्र है, उस केन्द्र में इच्छा शक्ति विकसित होती है। मनुष्य लोक में ज्ञान, इच्छा और क्रिया है। देव लोक में क्रिया और ब्रह्म लोक में इच्छा है। इच्छा शक्ति के द्वारा चिन्तन मात्र से सभी प्रकार की वस्तुएँ, सभी प्रकार के अनुभव प्राप्त हो जाते हैं, किसी प्रकार की क्रिया नहीं करनी पड़ती। मनुष्य की वह स्थिति ज्ञाता की, सिद्ध की स्थिति है।

तीन सर्वोच्च अवस्थाओं के बारे में हम जानते हैं–सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक। ब्रह्म लोक में सर्वज्ञता की अवस्था रहती है। प्राण से सूक्ष्म चेतना की जागृति पर मनुष्य स्वयं ब्रह्म का रूप धारण कर लेता है। चेतना की सूक्ष्म अवस्था को भी अन्त:शक्ति प्रकाशित करती है। चन्द्रमा की तुलना साहित्य में मन के साथ, मन:शक्ति के साथ की गयी है।

अन्त में है अविनाशी या ईश्वर धाम। वहाँ पर बुद्धि, प्राण और मन: शक्ति तीनों का लोप हो जाता है। अगर वहाँ इनका अलग अस्तित्व रहे, तो वह धाम ईश्वर धाम नहीं कहलायेगा। इसीलिए मनुष्य बुद्धि, प्राण या मन से उस अव्यय, अविनाशी पद का अनुभव नहीं कर सकता। जब मनुष्य सभी प्रकार की अवस्थाओं से गुजरते हुए चेतना की उस सर्वोच्च स्थिति में पहुँचता है, जहाँ पर इन तीनों का लोप हो जाए, तो वही आत्मा और परमात्मा के मिलन की स्थिति है।

यौगिक दृष्टि से मूढ़-धाम है मानव शरीर में स्थित मूलाधार। मूलाधार में शक्ति कुण्डलिनी के रूप में सुषुप्तावस्था में पड़ी हुई है। जीवधाम की तुलना स्वाधिष्ठान चक्र से हो सकती है। देव धाम है मणिपुर, जहाँ सूर्य प्रकाशित रहता है। ब्रह्म धाम है आज्ञा चक्र, जहाँ पर सूर्य और चन्द्र का मिलन होता है,

जहाँ केवल अन्तर्जागृति की स्थिति अनुभूत होती है। अन्त में ईश्वर-धाम है सहस्रार। उसी के बारे में चर्चा की गयी है–

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

योग के मतानुसार सूर्य व्यक्त सृष्टि का आधार है, चन्द्रमा अव्यक्त सृष्टि का आधार है और अग्नि, वाणी या बुद्धि व्यक्त और अव्यक्त सृष्टि में ज्ञानानुभव का आधार है। इन सब के परे, परम धाम में न प्राण पहुँच सकता है, न मन और न बुद्धि। जो उस धाम को प्राप्त करता है, वह मायापति का ही रूप धारण कर लेता है। वहाँ पहुँच कर लौटता नहीं है। रामायण में चौपाई है–

सो सब माया जानहु भाई। गो गोचर जह लगि मन जाई ॥

अर्थात् मन, प्राण और इन्द्रियों की जहाँ तक पहुँच है, वहाँ तक है माया की स्थिति। समाधि की अवस्था में प्राण, मन और बुद्धि, तीनों का लोप होता है। समाधि की अवस्था में मनुष्य ईश्वरमय हो जाता है, परमात्मामय हो जाता है, व्यष्टि पुरुष समष्टि रूप धारण कर लेता है। वह माया के अधीन नहीं रहता, मायापति बन जाता है और वही है अविनाशी, अव्यय पद।

इस प्रकार प्रभु अर्जुन को अपने अव्यय पद या परम-धाम के बारे में बतलाते हैं तथा यह भी कह देते हैं कि *'यद्गत्वा न निवर्तन्ते'*, अर्थात् वहाँ जाकर कोई लौटता नहीं है। पूर्व के अध्यायों में प्रभु कई बार कह चुके हैं कि मैं समस्त सृष्टि में व्याप्त हूँ, चर-अचर, स्थावर-जंगम, सजीव-निर्जीव में मेरा अंश है। इन चर्चाओं के आधार पर अर्जुन के मन में पुनः दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं। पहला यह कि संसार का नियम है कि जो कहीं जाता है, वहाँ से वापस भी आ सकता है। जो जिस मार्ग से आगे बढ़ता है, उसी मार्ग में पीछे भी लौट सकता है, फिर आपके परम-धाम से क्यों नहीं लौटता। नहीं लौटना या नहीं लौट पाना नियम विरुद्ध है। दूसरा यह कि आपका अंश शरीर में किस आधार पर टिका रहता है या निवास करता है। आपका अंश होते हुए भी वह सांसारिक व्यापार में किस प्रकार तथा क्यों लिप्त हो जाता है?

प्रभु कहते हैं कि मेरे धाम या अव्यय पद से वापस नहीं लौटना नियम विरुद्ध नहीं है, नियमानुसार है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर तुम इस नियम

को समझ पाओगे। समुद्र में गयी नदी फिर वापस नहीं लौटती। आधे घड़े जल में अगर थोड़ा जल मिला दिया जाये, तो क्या तुम उसे अलग कर सकोगे? कदापि नहीं। अब अगर मेरा ही अंश मुझसे मिल जाये, तो वापसी कैसी?

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥7॥

अर्थ

प्राणियों के इस लोक में, जीव के रूप में वर्तमान मेरा ही एक अविनाशी अंश है, जो तीनों गुणों से युक्त प्रकृति में (माया के कारण) स्थित होकर मन सहित छहों ज्ञानेन्द्रियों को संचालित करता है।

व्याख्या

लोक में जीव परमात्मा की अनन्त अविनाशी या सनातन सत्ता का ही अंश है। उसे जीवात्मा नाम से भी जानते हैं। देह में निवास करने के कारण यह अंश परमात्मा के समान पूर्ण शुद्ध या स्वायत्त नहीं रह पाता है। यह मन एवं पञ्च इन्द्रियों को आकृष्ट करने लगता है, जो प्रकृति में त्रिगुणात्मिका माया की चपेट में हैं।

प्रभु पुनः अश्वत्थ वृक्ष की याद दिलाते हुए कहते हैं कि ऊपर, वृक्ष की जड़ में पुरुष बैठा है। वहाँ से वह अपने ही अंश को नीचे, संसार में भेजता है।

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशि ॥

अर्थात् जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है, लेकिन कर्म लोक में पाँच इन्द्रियों और मन के साथ मित्र-भाव पैदा कर लेती है।

सो मायावश भयउ गोसाई, बन्ध्यो कीर मर्कट की नाई।

परमात्मा का यह अंश कर्म लोक में शरीरी, जीव, क्षेत्रज्ञ आदि नाम से जाना जाता है। वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। मन एवं इन्द्रियों के माध्यम से संसार में लिप्त हो जाता है। नाम, उपाधि, परिचय और पहचान के अहंकार के साथ भटकने लगता है। अपने नाम, घर, परिवार, प्रतिष्ठा

से जनित अहंकार के दायरे में सीमित हो जाता है। फिर जहाँ-जहाँ मन और इन्द्रियाँ जाते हैं, वहाँ-वहाँ जीव भी जाने लगता है।

जीव जन्म-जन्म के इन्द्रियाकर्षण को ही अपना कर्तव्य समझने लगता है। उसी में सुख खोजने तथा पाने लगता है। मन जीव पर इतना हावी हो जाता है कि मनुष्य मन के अधीन होकर मनमौजीपन को ही परम पुरुषार्थ मानने लगता है। अत: मेरा ही अंश जीवात्मा, मन और इन्द्रियों से तादात्म्य के कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति के फेरे में पड़ कर अपने क्षेत्र से भटक जाती है।

प्रभु कहते हैं प्राणी-लोक या कर्म भूमि में विद्यमान जीव मेरा ही एक अविनाशी अंश है। वह तीन गुणों से युक्त प्रकृति के अधीन होकर प्रकृति में स्थित होकर मन सहित छ: इन्द्रियों का संचालन करता है। तब अर्जुन उनसे पूछता है कि यह जीव कब, क्यों और किस प्रकार इन्द्रियों का संचालन करता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥8॥

अर्थ

गन्ध के वास स्थान से जिस प्रकार गन्ध को लेकर हवा दूसरी जगह चली जाती है, उसी प्रकार ईश्वर का अंश जिस शरीर को छोड़ता है, उसके मन तथा इन्द्रियों के संस्कार को लेकर दूसरे शरीर में जाता है।

व्याख्या

जीव इन्द्रियों के संस्कारों को लेकर दूसरे शरीर में प्रवेश करती है। इन्द्रियाँ जीव के साथ नहीं जातीं। जिन इन्द्रियों का अनुभव हम इस शरीर में करते हैं, वे शरीर के साथ नष्ट हो जाती हैं। जब प्रभु कहते हैं कि इन सब को ग्रहण करके जीव जाती है, तब उसका क्या मतलब होता है? इन्द्रियों के द्वारा जो संस्कार कामना के रूप में, लालसा के रूप में उत्पन्न होते हैं, वे जीव के साथ हो लेते हैं। मन भी जीव के साथ हो लेता है। यहाँ मात्र एक शब्द 'मन' का प्रयोग किया गया है, पर मन का तात्पर्य यहाँ मन:चतुष्टय से तथा सम्पूर्ण मानसिक अवस्था से है, जिसके द्वारा विषयों का, इन्द्रियों का, जगत् का बोध होता है।

इस श्लोक में प्रतीकात्मक रूप से यह भी कहा गया है कि इन्द्रियों का जीवात्मा के साथ गहरा सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध हवा और गन्ध के सम्बन्ध जैसा है। हवा एक चञ्चल तत्त्व है, कभी स्थिर नहीं रहती, किन्तु गन्ध की अवस्था इसके विपरीत है। गन्ध गमनशील नहीं होती, वायु के माध्यम से ही उसका विस्तार होता है। आप एक गुलाब के फूल की गन्ध को दूर से ही सूँघ लेते हैं, उसकी सुगन्ध का अनुभव करते हैं। सुगन्ध गुलाब में व्याप्त है, लेकिन हवा के माध्यम से उसकी गन्ध दूसरे स्थान तक पहुँच जाती है। जहाँ-जहाँ हवा का बहाव होता है, वहाँ-वहाँ सुगन्ध फैलती जाती है। हवा से यह नहीं कहा जा सकता कि तुम इस तरफ बहो, उधर नहीं। जिस ओर उसका प्रवाह हो रहा है, उसी ओर वह बहती रहती है। रास्ते में भले ही हवा को अनेक सुगन्धपूर्ण या दुर्गन्धपूर्ण वस्तुएँ मिलें, इससे फर्क नहीं पड़ता। अपने प्रवाह में हवा उस गन्ध को बहा ले जाती है।

ऐसा ही सम्बन्ध जीवात्मा और मन सहित छः इन्द्रियों के बीच है। मन का, इन्द्रियों का स्वभाव चञ्चल है। मन कभी स्थिर नहीं रहता, वह हमेशा किसी-न-किसी विषय की ओर आकृष्ट होता रहता है। लेकिन जीवात्मा का स्वभाव चञ्चल नहीं है। आत्मा की तुलना यहाँ प्रभु ने गन्ध के साथ की है। यह भी कहा जा सकता है कि प्रभु परमात्मा को फूल के रूप में और आत्मा को उसकी गन्ध के रूप में बतलाते हैं, जो फूल का ही अन्तर्निहित गुण या अभिन्न अंग है।

इस भौतिक जगत् में इन्द्रिय आकर्षण की, मानसिक आकर्षण की जो हवा बहती है, जिसमें अस्मिता का वेगपूर्ण प्रवाह है, उसमें वह आत्मा गन्ध की तरह बहने लगती है। लेकिन एक अन्तर दिखलायी देता है कि आत्मा गन्ध की तरह बलहीन नहीं है। अगर आत्मा संकल्प कर ले कि मुझे अपने स्रोत से दूर नहीं जाना है, तो उसके अस्तित्व पर मन और इन्द्रियों का प्रभाव नहीं पड़ सकता। इस सिद्धान्त की चर्चा प्रभु ने पूर्व के अध्यायों तथा श्लोकों में एवं आगे के अध्यायों और श्लोकों में भी की है। यहाँ वे सिर्फ आत्मा, मन और इन्द्रियों की तुलना कर रहे हैं। मनुष्य को रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और अनेक भोगों का अनुभव इन्द्रियों एवं अन्तःकरण के माध्यम से होता है। जिस ओर ये अनुभव हमारी प्रवृत्तियों को घुमा देते हैं, उसी ओर जीव जाती है तथा देहान्त के समय जो प्रवृत्ति प्रबल रहती है, उसी ओर जीव आकृष्ट हो जाती है।

यह कोई नया सिद्धान्त नहीं है, जिसका प्रतिपादन प्रभु ने गीता में किया है। अनेक ग्रन्थों में इसकी चर्चा की गयी है। मृत्यु के समय जो अपूर्ण कामना या अपूर्ण इच्छा रहती है, उसकी पूर्ति के लिए आत्मा को फिर से शरीर धारण करना पड़ता है।

बाह्य या व्यक्त जगत् में मन और इन्द्रियों को शक्तिशाली बतलाया गया है। जब एक घर छोड़कर मनुष्य दूसरे घर में जाता है, तब वह अपना बोरिया-बिस्तर, सामान, फर्नीचर आदि सब उठा कर ले जाता है। अपने कपड़े, फोटो वगैरह पुराने घर में तो नहीं छोड़ता। केवल घर का त्याग करता है। सम्पत्ति और सामान तो अपने साथ ले जाता है, ताकि दूसरे घर को भी सजा सके और आराम से रह सके। उसी प्रकार जब आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करती है, तब उसकी समस्त अतृप्त इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और संस्कार आत्मा के साथ जाते हैं, क्योंकि इस व्यक्त जगत् में आत्मा इन्द्रियों के अधीन हो गयी रहती है। केवल तत्त्व ज्ञानी, जो आत्मा, मन एवं इन्द्रियों के भेद को समझता है, इनके प्रभावों से स्वाधीन या मुक्त रह सकता है, दूसरे नहीं। उसमें यह क्षमता आ जाती है कि शरीर त्याग के समय अपने साथ कुछ न ले जाए।

देवता लोग भी मन और इन्द्रियों के प्रबल प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकते, शक्ति सम्पन्न होते हुए भी वे अन्त:करण और भोग की चपेट में रहते हैं। केवल तत्त्व ज्ञानी इनसे मुक्ति पा सकता है।

प्रभु ने इस श्लोक में केवल इन्द्रियों के प्रभाव की चर्चा की है, इन्द्रियों के प्रकार के बारे में कुछ नहीं बतलाया है। अर्जुन पूछता है कि इन्द्रियाँ कितने प्रकार की हैं और उनको साथ ले जाने से कुछ फायदा भी होता है या नहीं। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभु कहते हैं कि इन्द्रियों के सम्बन्ध में मैं जवाब दे सकता हूँ, लेकिन इन्द्रियों को साथ ले जाने से लाभ होगा या नहीं, हानि होगी या नहीं, इसका जवाब मैं नहीं दूँगा। यह तो सर्वविदित है कि कोई जीव बिना किसी लाभ की इच्छा के कर्म नहीं करता। पर कर्म करते समय उसको यह जानकारी भी नहीं रहती कि इस कर्म से मुझे लाभ होगा या हानि। परिणाम तो बाद में अच्छा आता है। जिस चीज को हम तत्काल अच्छा मानते हैं, हो सकता है कुछ समय पश्चात् उसका गलत प्रभाव पड़े। इसलिए लाभ-हानि की बात मत पूछो। जहाँ लाभ-हानि की बात होती है, वहाँ फल की आशा रहती है। अत: तुम यह मत सोचो कि इसमें कुछ मिलेगा।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥9॥

अर्थ

ईश्वर का यह अंश ही कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक और मन के सहारे इन ज्ञानेन्द्रियों के विषयों को भोगता है।

व्याख्या

इन्द्रियाँ पाँच हैं और इन इन्द्रियों के अनेक प्रकार के कार्य हैं। यहाँ प्रभु ने ज्ञानेन्द्रियों की चर्चा की है–कान, आँख, त्वचा, जीभ और नाक। इनके अतिरिक्त पाँच कर्मेन्द्रियाँ भी हैं, जिनके द्वारा शरीर के सभी कार्यों का सम्पादन होता है–चलना, फिरना और बाह्य जगत् से सम्पर्क होता है। ये हैं–हाथ, पैर, मुँह, गुदा और उपस्थ।

ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जगत् का, पाँच रूपों का अनुभव होता है–शब्द रूप, रस रूप, गन्ध रूप, स्पर्श रूप, घ्राण रूप। उनको उलटा कर देने से, रूप शब्द, रूप रस, रूप गन्ध, रूप स्पर्श और रूप घ्राण हो जाता है। संसार की कोई वस्तु ऐसी नहीं, जो इनकी सीमा से बाहर हो। भोजन में भी सभी प्रकार के रसों का ज्ञान होता है–मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त, काषाय का ज्ञान होता है। कपड़ों में भी सभी प्रकार के स्पर्श के अनुभव हो जाते हैं। मखमल के कपड़े का अलग अनुभव, खादी के कपड़े का अलग अनुभव, टेरीलीन, टेरीकॉट का अलग अनुभव है। इनसे भी भोग की उत्पत्ति होती है, भोग की प्रवृत्ति जुड़ी हुई है। इन्द्रिय ज्ञान, इन्द्रिय अनुभव संसार के समस्त पदार्थों में हैं। एक पत्थर में भी हैं। इसी कारण द्वैत भाव की उत्पत्ति होती है–अच्छा या बुरा लगना, आकर्षण या विकर्षण का उत्पन्न होना। ये इन्द्रिय समूह या इन्द्रिय अनुभव पूरे संसार में व्याप्त हैं।

इन्द्रियों के साथ मन भी है। मन के भी चार रूप हैं। सामान्य रूप से बुद्धि के द्वारा, तर्क के द्वारा मनुष्य एक विषय-भोग को स्वीकार या अस्वीकार करता है। चित्त के द्वारा विषयों से उत्पन्न संस्कारों को स्वीकृति या अस्वीकृति मिलती है। अगर किसी विषय से, भोग-प्रवृत्ति से एक संस्कार उत्पन्न होता है, या नष्ट होता है या प्रबल होता है, तो उसे अस्तित्व की स्वीकृति मिलती है। मन के द्वारा विषय और भोग की चिन्तन प्रक्रिया होती है। साथ ही वहाँ बैठे हुए

अहंकार द्वारा भोक्ता की भावना उत्पन्न होती है। मन और इन्द्रियों के कारण ही जीव कभी सुखी होता है और कभी दु:खी। जब तक जीव की इन्द्रिय-संगति चलती रहती है, वह द्वैत भावना के रूप में, अच्छे-बुरे के रूप में, सत्संग और कुसंग के रूप में उसका परिणाम भोगता रहता है।

अर्जुन पुन: कहता है कि अब तक की बातें मैं समझ गया हूँ। आपके अनुसार आत्मा और परमात्मा एक हैं। आपका ही एक अंश प्रकृति में स्वयं को स्थित करके प्रकृति से सम्बन्ध जोड़ता है और फिर पुराने कपड़े को उतार कर नया कपड़ा पहनने की भाँति वह इस भौतिक शरीर का त्याग करता है तथा दूसरे शरीर को धारण करता है। पर विषय सेवन के लिए अपने छ: मित्रों की संगत भी करता है। अब मुझे यह जानना है कि जीवात्मा और उसके कार्य को देखकर कोई जीवात्मा की वास्तविक अवस्था का पता लगा सकता है या नहीं? जीवात्मा की वास्तविक स्थिति का ज्ञान शास्त्रों के द्वारा होगा या वास्तव में उसका अनुभव भी किया जा सकता है?

प्रभु कहते हैं कि प्रश्न का उत्तर हाँ में भी है और नहीं में भी। जीवात्मा को देखकर तुम अनुमान लगा सकते हो कि उसकी वास्तविक अवस्था क्या है, कैसी है, और नहीं भी लगा सकते हो। कुछ लोगों में आत्मा को देखने की क्षमता रहती है। किस प्रकार के लोग आत्मा की वास्तविक स्थिति को जान सकते हैं, इसे अगले श्लोक में बताया है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥10॥

अर्थ

शरीर को त्याग कर जाते हुए अथवा शरीर में स्थित रहते हुए या विषयों का भोग करते हुए, अथवा तीनों गुणों से युक्त इस ईश्वरांश को अज्ञानी लोग नहीं जानते, लेकिन ज्ञानरूप नेत्रों वाले विवेकशील ज्ञानी पुरुष इसका अनुभव कर लेते हैं।

व्याख्या

यद्यपि आत्मा शरीर में रहती है, लेकिन अज्ञानी उसका अनुभव नहीं करते। मृत्यु के समय जब आत्मा शरीर को छोड़ती है, उस समय भी अज्ञानी आत्मा

का अनुभव नहीं करते। शरीर में स्थित रह कर आत्मा भोग भी करती है, लेकिन अज्ञानी लोग भोग करते हुए आत्मा को भी नहीं देख सकते। आत्मा शरीर धारण कर, तीन गुणों से युक्त हो जाती है। अज्ञानी को आत्मा की तामसिक, राजसिक या सात्त्विक अवस्था का आभास भी नहीं होता है। जो व्यक्ति प्रयत्न द्वारा अनुभव और ज्ञान को विकसित करता है, दिव्य दृष्टि या ज्ञान चक्षु प्राप्त करता है, वह ज्ञानी है, और वही आत्मा को पहचानने की क्षमता रखता है। ज्ञानी और अज्ञानी के लक्षण तो अलग-अलग होते हैं। रामायण में कहा गया है–

मुकुर मलिन अरु नयन विहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना ॥

जब तक मनुष्य संसार में रहता है, और संसार के विषयों का मल उसके हृदय में भरा रहता है, अज्ञान का पर्दा मन पर पड़ा रहता है, तब तक वह अपने को नहीं पहचान सकता। एक अन्धे का भी शरीर रहता है, हाथ-पैर रहते हैं, लेकिन वह अपने शरीर को देख नहीं सकता। बौद्धिक रूप से जानता है कि मैं पैरों से चलता हूँ, हाथों से कार्य करता हूँ, खाना खा सकता हूँ, पानी पी सकता हूँ, सूँघ सकता हूँ, आदि। यह ज्ञान उसे रहता जरूर है, लेकिन अपने शरीर के कार्यरत अंगों को वह देख नहीं सकता। ठीक इसी प्रकार संसार के समस्त विषय और भोग ज्ञान-दृष्टि के समक्ष पर्दा डाले हुए हैं। बौद्धिक रूप से यह जानते हुए भी कि हमारे अन्दर आत्मा है, मैं आत्मस्वरूप हूँ, हम उसका अनुभव नहीं कर पाते।

अज्ञानी के लक्षण हैं– *'विमूढानानुपश्यन्ति'* –जो देख नहीं सकते, रहते हुए भी देख नहीं सकते। ज्ञानी के लक्षण हैं– *'पश्यन्ति ज्ञान चक्षुष:'* –जिसके पास ज्ञान की दृष्टि है, वह देख सकता है। कितने लोग अपनी आत्मा को जानने का प्रयत्न करते हैं और कितने लोग कर्ता या भोक्ता की भावना को धारण किये हुए हैं? मनुष्य के जीवन में आत्मानुसंधान की भावना कम उठती है, वह इस विषय पर सोचता ही नहीं। लेकिन जब मन, बुद्धि और चेतना का विकास होता है, जब अन्त:करण निर्मल होकर प्रकाशित हो उठता है, तब ज्ञान के नेत्र खुलते हैं। जैसे खुली आँखों से दूसरों के रूप तथा अपने शरीर को देख सकते हैं, वैसे ही ज्ञानचक्षु से आत्मा को भी देखा और अनुभव किया जा सकता है।

यदि किसी अनजान के सामने काँच का और हीरे का टुकड़ा रखा जाये, जो उनके भेद को न जानता हो, तो उसके लिए हीरे और काँच के टुकड़े

का बराबर मोल होगा। लेकिन यदि वह उन्हें परख सके, तब हीरे को रख लेगा, तथा काँच को छोड़ देगा। यह पहचानने का ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ? पूर्व अभ्यास से ज्ञान संग्रह के द्वारा। किसी प्रक्रिया के द्वारा एक अवस्था में पहुँचे हैं, जहाँ पहचानने की क्षमता प्राप्त हुई है। ज्ञान के साथ प्रयत्न जुड़ा हुआ है, अभ्यास जुड़ा हुआ है। अज्ञान में प्रयत्न नहीं जुड़ा है। देखने के लिए दृष्टि की आवश्यकता होती है, जो वस्तु दिखलायी पड़े, उसे पहचानने के लिए बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। पहचानने के लिए जिस प्रक्रिया को अपनाते हैं, उसके लिए आत्म-स्थिरता की आवश्यकता पड़ती है।

एक साधक के जीवन में दृष्टि, बुद्धि, उपासना और आत्म-स्थिरता का होना आवश्यक है। कुछ लोग पहचानने के लिए केवल बुद्धि का सहारा लेते हैं और सोचते हैं कि दृष्टि और आत्म-स्थिरता की आवश्यकता नहीं। कुछ सोचते हैं कि केवल देख लेना पर्याप्त है, पहचानने की आवश्यकता नहीं। कुछ सोचते हैं कि साक्षात्कार के लिए केवल उपासना पर्याप्त है, दृष्टि और बुद्धि की आवश्यकता नहीं।

एक बार एक पण्डितजी एक रास्ते से गुजर रहे थे। उन्होंने किसी व्यक्ति को रोते हुए देखा और उससे रोने का कारण पूछा। व्यक्ति ने कहा कि मेरी गाय मर गयी है, मेरी जीविका का एकमात्र आधार वही थी। इसी दुःख से मैं रो रहा हूँ। पण्डितजी बहुत अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने रोते हुए व्यक्ति को अच्छी तरह समझाया कि देखो, संसार में तो सब का आना-जाना लगा ही रहता है। कौन किसको याद करे, कौन किसके लिए रोये? गाय ही मरी है न? गाय का भी अपना शरीर होता है। शरीर खत्म हो गया, लेकिन उसकी आत्मा तो अजर-अमर है।

समझा-बुझाकर, व्यक्ति को शान्त कर पण्डितजी जब अपने घर पहुँचे, तो पण्डिताइन को रोते हुए देखा। पता चला कि उनकी जर्सी गाय मर गयी है। इतना सुनते ही पण्डितजी मेरी गाय, हाय! मेरी गाय कहते हुए छाती पीट-पीट कर रोने लगे। एक मित्र सब तमाशा देख रहा था। उसने कहा कि कुछ समय पहले आप कह रहे थे कि गाय के मरने से क्या दुःख, शरीर मरता है, आत्मा अजर-अमर है, आत्मा का ख्याल करो। इस महान् ज्ञान के रहते आपकी यह स्थिति क्यों हो गयी? पण्डितजी ने कहा–मित्र, तुम मेरे दिल की व्यथा को नहीं समझ सकोगे। मैंने उपदेश दिया था, क्योंकि उसकी गाय मरी थी। लेकिन अब तो मेरी अपनी गाय मर गयी है।

दूसरों को समझाने के लिए पण्डितजी में बुद्धि थी, लेकिन खुद को समझाने के लिए उनमें बुद्धि नहीं थी। दूसरों को देखने के लिए उनके पास दृष्टि थी, लेकिन स्वयं को देखने के लिए उनके पास दृष्टि नहीं थी। दूसरों को शान्त करने की क्षमता उनमें थी, लेकिन वे स्वयं को स्थिर नहीं कर पाये, आत्मस्थिरता की कमी थी। अत: *'परोपदेशे पाण्डित्यम्'* की बात हो गयी। ऐसा क्यों होता है, हम अपने साथ आत्मपरक रहते हैं, किन्तु दूसरों के साथ वस्तुपरक हो जाते हैं। आपको परेशानी हो रही है, तो आपको समस्या का निदान मैं बतला सकता हूँ। मुझे परेशानी होगी, तो मैं उसका निदान नहीं खोज पाऊँगा, किसी दूसरे को बतलाना पड़ेगा। उस भाव में मैं डूब जाता हूँ, आप नहीं डूबते, और जब आप डूबते हैं, तो मैं नहीं डूबता। इस प्रकार आत्मपरकता और वस्तुपरकता आ जाती है, तथा ज्ञानी और अज्ञानी का भेद स्पष्ट हो जाता है।

स्वयं के साथ कोई दुर्घटना घटती है, तो बुद्धिहीनता की अवस्था रहती है, क्यों? हमें उस दुर्घटना की अपेक्षा नहीं रहती है, चोट लगती है, सदमा पहुँचता है कि ऐसा क्यों हुआ। इसके कारण मनुष्य अपने सभी विचारों को, वस्तुपरक भाव को भूल जाता है। ज्ञानी होते हुए भी अज्ञानी की-सी स्थिति आ जाती है। अन्त में अज्ञान की परिणति होती है ज्ञान में, केवल एक उपाय के द्वारा-जो प्रयत्न है।

इसी प्रसंग में अर्जुन पूछता है कि प्रयत्न के द्वारा ज्ञानियों के अतिरिक्त क्या अन्य कोई भी आत्मा को देख सकता है? प्रभु बतलाते हैं कि ऐसा नहीं कि हर प्राणी प्रयत्न के द्वारा आत्मा को देख सके, क्योंकि प्रयत्न अनेक प्रकार के होते हैं, प्रयत्न करने वालों में अन्तर होता है, कुछ लोग तो वास्तव में निष्ठापूर्वक प्रयास करते हैं, और कुछ लोग सतही प्रयास करते हैं, प्रयत्न की गहरायी में नहीं जाते।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥11॥

अर्थ

योगी अपने में स्थित इस आत्मा को साधना द्वारा ही जान पाते हैं, किन्तु जो अविचारवान व्यक्ति आत्मवान् नहीं बन पाये हैं, वे प्रयत्न करते हुए भी इस आत्मा को नहीं जान पाते।

व्याख्या

योगी, अर्थात् जो निष्ठावान् है, जो प्रयत्न करता है, जो एक साधना में रत है–साधना के द्वारा, प्रयत्न के द्वारा अपनी आत्मा को जान जाता है, क्योंकि योगी की इस प्रयत्न में निष्ठा एवं आत्म-सजगता जुड़ी है। जब तक व्यक्ति जागरूक, सजग नहीं रहेगा, आत्मा को जान नहीं पायेगा। प्रभु यह भी कहते हैं कि अविचारवान व्यक्ति प्रयत्न करते हुए भी इस आत्मा को नहीं जान पाता है। सातवें अध्याय के तीसरे श्लोक में कहा गया है–

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

संसार के हजारों मनुष्यों में कोई एक ज्ञान की सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है, और प्रयत्न करने वालों में से कोई एक मनुष्य मुझे तत्त्व से जान पाता है। प्रयास भेद यहाँ दिखता है कि हजारों प्रयास करने वालों में कुछ ही लोग क्षमता प्राप्त कर पाते हैं और प्राप्त करने वालों में भी थोड़े-से लोग ही वास्तविक तत्त्व को जान पाते हैं।

सफलता केवल योगियों को मिलती है। योगी का मतलब ही है कि जो सतत् सजगतापूर्वक प्रयत्नशील और निष्ठावान रहे। साथ-ही स्वयं को शुद्ध और पवित्र बनाये। जिस योगी के जीवन में किसी प्रकार की अपवित्रता नहीं रह जाती और जो शास्त्र तथा गुरु के द्वारा बतलाये गये सभी निर्देशों का पालन कर स्वयं को शुद्ध कर लेता है, उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। जिन लोगों ने अन्तःकरण को पवित्र बनाने तथा मन की वृत्तियों को नियन्त्रित करने का प्रयत्न नहीं किया है, जिनकी आन्तरिक चञ्चलता समाप्त नहीं हुई है, जो अहंभाव तथा ममता के कारण सांसारिक विषयों में आसक्त हैं, वैसे लोग शास्त्र के अनुसार या गुरु के निर्देशानुसार आत्मा को जानने का प्रयत्न करते हुए भी उसे नहीं जान सकते हैं। आत्मा को जानने के लिए कुछ विशेषताओं की आवश्यकता होती है। जब तक मनुष्य के पास वे विशेषतायें नहीं होंगी, वह आगे नहीं बढ़ सकेगा।

योग में कहा गया है कि केवल आसन-प्राणायाम कर समाधि को प्राप्त करना सम्भव नहीं। इस हेतु एक सम्पूर्ण प्रक्रिया से गुजरना पड़ेगा। ज्ञान के साथ आसन के द्वारा शरीर को संयत और सन्तुलित करना पड़ेगा, प्राणायाम के द्वारा प्राण की शक्ति को जाग्रत करना पड़ेगा, प्रत्याहार के द्वारा बहिर्मुखता

और अन्तर्मुखता के भेद को जानना पड़ेगा, धारणा के द्वारा मानसिक चञ्चलता को समाप्त करना पड़ेगा, ध्यान के द्वारा स्वयं को अपने इष्ट में समाहित करना पड़ेगा, तब ही समाधि की, साक्षात्कार की अवस्था प्राप्त हो सकती है। समाधि को प्राप्त करने के पूर्व ज्ञान सहित इन अभ्यासों से गुजरना आवश्यक है। इसी प्रकार आत्मा का अनुभव प्राप्त करने के लिए एक प्रक्रिया की आवश्यकता पड़ती है, और वह है ज्ञान की प्रक्रिया, अन्तःकरण के विकास की प्रक्रिया, चञ्चलता को रोकने की प्रक्रिया, विषयों से स्वयं को अप्रभावित रखने की प्रक्रिया। शास्त्रों एवं गुरु के निर्देशों के अनुसार साधना एवं आचरण करते हुए मनुष्य आत्मा का अनुभव कर पाएगा। आत्मा चैतन्य है, निरंजन है।

जिस प्रकार हवा में सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों का आभास होता है, ठीक उसी प्रकार जीवन में सुख और दुःख का आभास होता है। हवा में दुर्गन्ध का अनुभव करके अगर मनुष्य सोचे कि सम्पूर्ण जगत् दुर्गन्धमय है, तो वह गलत विचारधारा होगी। हवा में सुगन्ध का अनुभव कर अनुमान लगाये कि सम्पूर्ण जगत् सुगन्धमय है, तो वह भी गलत होगा। हवा में न तो सुगन्ध है, न दुर्गन्ध। हवा में सुगन्ध और दुर्गन्ध तो इस बात पर निर्भर है कि हवा किस ओर से, किस इलाके या क्षेत्र से बह कर आ रही है। जो इस तथ्य को जानता है, वह योगी है और जो इस तथ्य को नहीं जानता, वह योगी नहीं है। मन और इन्द्रियों के साथ हवा के बहने पर हवा में दुर्गन्ध की उत्पत्ति होती है और जब वही हवा मन तथा इन्द्रियों से पृथक् होकर बहती है, तब उसमें उसकी अपनी वास्तविक गन्ध होती है। वह गन्ध कैसी है? न सुगन्ध है, न दुर्गन्ध है, पूर्णतः निर्विकार है।

वह व्यक्ति, जो साधना के द्वारा आत्मा का अनुभव प्राप्त करता है, प्रभु के अनुसार विचारवान्, दृढ़प्रतिज्ञ और योगी है। योगी अपने पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा के प्रकाश को देख सकता है, पुरुषार्थ उसकी साधना का रूप ले लेता है। एक अणु के रूप और गुण के बारे में कोई चित्र बनाकर कितना भी क्यों न समझाये, सुपर माइक्रोस्कोप के बिना अणु की वास्तविक संरचना तथा गति को नहीं समझ सकेंगे। सैद्धान्तिक ज्ञान कितना भी क्यों न रहे, एक विशेष प्रयत्न या प्रक्रिया के बिना वास्तविक ज्ञान की अनुभूति सम्भव नहीं है। जिस प्रकार वैज्ञानिक एक अविकसित विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए प्रयत्न करता है, अनुसंधान करता है, उसी प्रकार एक योगी आत्मा का अनुभव करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है।

सामान्य लोग, जिन्हें यहाँ पर *'अचेतस:'* कहा गया है, जो अविवेकी या अविचारवान हैं, ज्ञान को धारण करने में सक्षम हैं; किन्तु ज्ञानानुभव में सक्षम नहीं हैं, जिसके कारण वे आत्मा को जन्म लेते एवं मरते हुए देखते हैं, पाप और पुण्य के भोक्ता के रूप में देखते हैं, और आगे नहीं पहुँच पाते। *'यतन्तो योगिन:'* का तात्पर्य है कि योगी यत्न करता है, साधना करता है, पुरुषार्थ करता है।

यह प्रयत्न, पुरुषार्थ या साधना किस प्रकार की होती है? सम्पूर्ण जगत्, दृश्य या अदृश्य, व्यक्त या अव्यक्त, कर्मों के अधीन रहता है। प्रत्येक प्राणी कर्मों के बन्धन में जकड़ा हुआ है। प्राणी की चेतना, मानसिक अवस्था, विचार की स्थिति और अनुभव की स्थिति आदि सभी कर्मों से प्रभावित होती हैं। मन, विचार, अनुभव के स्वरूप और अवस्था या पद्धति में परिवर्तन के लिए किये गये प्रयास को पुरुषार्थ या साधना कहते हैं। विचारधारा और अनुभव के स्वरूप बदलने पर मनुष्य की स्थिति वास्तविक साधक की हो जाती है। उस समय साधक के लिए विषयों के कर्म बन्धन समाप्त हो जाते हैं, साधक कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर पृथक् खड़ा हो जाता है।

जीवात्मा कर्म बन्धन में रहती है, मुक्त आत्मा कर्म के परे चली जाती है और परमात्मा की अवस्था में कर्म पर पूर्ण नियन्त्रण हो जाता है। ये तीन अवस्थाएँ हैं। आत्मा शब्द का प्रयोग जीवात्मा में, मुक्त आत्मा में और परमात्मा में हुआ है।

आत्मा– *'ईश्वर अंश जीव अविनाशी'*–एक ही रूप है। जल चाहे तालाब का हो, नदी का हो या सागर का हो, तत्त्व तो एक ही है। जब उस आत्म-तत्त्व को जीवात्मा के नाम से सम्बोधित करते हैं, तब आत्मा कर्म बन्धनों में आबद्ध, कर्मों की सीमा रेखा के भीतर अनुभूत होती है, जैसे एक तालाब। मुक्त-आत्मा, जो कर्म बन्धन सीमा-रेखा से मुक्त हो गयी है, अब एक नदी बह रही है। परमात्मा है कर्म नियन्त्रण की अवस्था। वह नियन्त्रक है, शासक है। रामायण में कहते हैं–

कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करहिं सो तस फल चाखा ॥

ईश्वर रचित विश्व कर्म प्रधान है। इस विश्व में कर्मों के अनुभव, कर्मों के प्रभाव, कर्मों की गति और स्वयं कर्म प्रधान माने गये हैं। जो जैसा करता है, वैसा फल पाता है। पुरुषार्थ या यत्न जीवात्मा से मुक्त आत्मा में जाने का

और मुक्त आत्मा बन कर परमात्मा का अनुभव प्राप्त करने का प्रयास है। इस प्रयास में शरीर और मन कहाँ तक काम देते हैं, वह एक अलग विचारणीय विषय है।

अर्जुन इस पुरुषार्थ के नीरस ऊहापोह से निकल प्रभु से निवेदन करता है कि आप अपने धाम की चर्चा कीजिये, जहाँ ये तत्त्व से आत्मा को जान लेने वाले योगीजन पहुँचते हैं। पहले आपने कहा कि सूर्य, चन्द्र और अग्नि ही सारे संसार को प्रकाशित करते हैं। फिर आपने कहा कि अव्यय धाम में ये तीनों नहीं पहुँच पाते हैं। मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि सूर्य, चन्द्र और अग्नि के द्वारा, जो व्यवहारत: प्राण, मन (अन्त:करण) और वाणी हैं, सम्पूर्ण जगत् का, चाहे वह दृश्य हो, व्यक्त और पदार्थमय हो या अदृश्य, अव्यक्त हो, पालन-पोषण होता है। सूर्य और प्राण से दृश्य जगत् का पालन-पोषण होता है। चन्द्र और अन्त:करण से अदृश्य, अव्यक्त जगत् को शक्ति प्राप्त होती है। अग्नि से, जो प्राण और मन का व्यवहार है, मनुष्य कर्मों की ओर प्रेरित होता है। फिर जब आप कहते हैं कि मेरे धाम में इन तीनों की पहुँच नहीं है, तो आप क्या यह कहना चाह रहे हैं कि आपका धाम न व्यक्त है, न अव्यक्त? जब पूरी सृष्टि को हम व्यक्त और अव्यक्त, दो रूपों में देख रहे हैं, तो आपका धाम किस श्रेणी में आएगा? क्या व्यक्त और अव्यक्त के अलावा भी कोई तीसरी अवस्था है?

प्रभु ने कहा कि अव्यय धाम की विशेषता के बारे में पहले ही समझा चुका हूँ, जब वहाँ सूर्य, चन्द्र और अग्नि की पहुँच नहीं, तो निश्चित ही वह धाम न व्यक्त होगा, न अव्यक्त। लेकिन फिर भी तत्त्व से जान लेने वाले साधक उस धाम को प्राप्त करते हैं। जब जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करती है, तब वह मुझमें, अविनाशी स्वरूप में मिलकर एक हो जाती है, सर्वशक्तिमान् बन जाती है।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥12॥

अर्थ

जो तेज सूर्य में स्थित होकर समूचे विश्व को प्रकाशित करता है और जो चन्द्रमा तथा अग्नि में है, वह मेरा ही तेज है।

व्याख्या

जो तेज सूर्य से विकीर्ण होकर अज्ञान के अन्धकार को मिटाता है, वह मेरा ही तेज है, उस तत्त्व का गुण है। चन्द्रमा का प्रकाश, चन्द्रमा की ज्योत्सना, गुण एवं तेज, जो अन्त:करण में प्रसन्नता का अनुभव दिलाता है, आनन्द, सुख और शान्ति का अनुभव दिलाता है, मैं ही हूँ। अग्नि, जिससे जगत् में ठण्ढ के समय उष्णता की और अन्धकार के समय प्रकाश की प्राप्ति होती है, जिससे व्यक्ति सुरक्षा और सुखद स्थिति प्राप्त करता है, वह भी मैं ही हूँ। भौतिक जगत् में सूर्य, चन्द्र और अग्नि के द्वारा प्राणी अपने कर्म करता है। इन तत्त्वों से प्रकाश की प्राप्ति होती है।

यौगिक दृष्टिकोण से सूर्य की तुलना प्राण से की गयी है। प्राण में भी भिन्नतायें हैं, और उन भिन्नताओं के कारण प्राण जगत् के प्राणियों का पोषण करने में सक्षम है। योग के अनुसार प्राण के पाँच प्रकार हैं–प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। इनके अतिरिक्त और भी कई प्राण-उपवायु होती हैं–देवदत्त, कूर्म, कृक्कर, धनञ्जय और नाग। नाम तो एक ही दिया जाता है–प्राण, लेकिन प्राण में इसकी भिन्नताओं का वर्णन किया गया है। जब तक इनका एक सामूहिक प्रयास नहीं होता, तब तक प्राण क्रियाशील नहीं होते हैं, जाग्रत नहीं होते हैं। इन विभिन्न प्राणों में क्षमता या गुण ईश्वरीय है।

चन्द्रमा की तुलना अन्त:करण से, मन:चतुष्टय से की गयी है। मन: चतुष्टय में संस्कारों और कर्मों के कारण प्रकाश की प्राप्ति होती है। संस्कारों, कर्मों और विचारों का जो प्रतिबिम्ब बनता है, जो परावर्तन होता है, उसके कारण ही मन की गति का अभास होता है। अग्नि या वाणी में जब एक बाह्य क्रिया और एक आन्तरिक क्रिया का पारस्परिक सम्बन्ध होता है, तो व्यवहार के रूप में वह प्रकट होता है। विचार आता है चलने का, तब उस विचार के साथ एक शारीरिक क्रिया जुड़ती है। दोनों का एक पारस्परिक सम्बन्ध होता है। फिर उसका परिणाम कर्मों के रूप में, क्रिया के रूप में दिखलायी देता है।

चाहे सूर्य हो या चन्द्र, अग्नि हो या प्राण, मन हो या वाणी–ये स्वयंभू तत्त्व नहीं हैं, स्वयं को प्रकाशित नहीं करते हैं। इनके प्रकाशित होने का एक कारण होता है। वह स्वयंभू तत्त्व, जो स्वयं प्रकाशित रहता है, ईश्वरीय तत्त्व है, गुण है, तेज है। प्रभु कहते हैं कि ये तत्त्व स्वयंभू नहीं, मैं स्वयंभू हूँ, स्वप्रकाशित हूँ। मेरे ही कारण इनका उद्भव होता है, मेरे ही कारण इनका

अन्त भी होता है। अगर मैं हट जाऊँ, अपनी स्वयंभू प्रकृति को हटा लूँ, तो ये अस्तित्वहीन हो जायेंगे–वह चाहे सूर्य हो या प्राण, चन्द्र हो या मन, अग्नि हो या वाणी। स्वयंभू होने के कारण ही प्रभु तत्त्वों का गुण स्वयं धारण करके इनके प्रकाश का, क्रिया का माध्यम बनते हैं।

व्यक्त और अव्यक्त के परे प्रभु का अव्यय धाम अविनाशी धाम कैसा होगा? स्वयंभू-धाम का अपना विशेष रूप होगा। व्यक्त का अनुभव प्राप्त करने के लिए एक कारण और माध्यम की आवश्यकता होती है। अव्यक्त का अनुभव प्राप्त करने के लिए भी एक कारण और एक माध्यम की आवश्यकता होती है। वे दोनों, व्यक्त और अव्यक्त एक तीसरे तत्त्व पर आश्रित हैं। व्यक्त अनुभव पराश्रित है एक गुण पर, अव्यक्त अनुभव पराश्रित है एक गुण पर। और इससे परे की स्थिति, स्वयंभू अवस्था किसी पर आश्रित नहीं रहती। उसी पर सब आश्रित हैं, उस स्वयंभू अवस्था में वह सभी कुछ सन्निहित है, जो अलग-अलग तत्त्वों में, अलग-अलग रूपों में, उनके गुण-धर्म के रूप में प्रकट होता है।

बारहवें श्लोक में प्रभु कह रहे हैं कि जगत् में प्रकाश के जो भी कारण हैं, उनका कारण मैं खुद हूँ। भौतिक जगत् में सूर्य, चन्द्र और अग्नि; आन्तरिक जगत् में प्राण, मन और वाणी तथा आध्यात्मिक जगत् में स्थूल, सूक्ष्म और कारण को क्रियान्वित करने वाला जो तत्त्व है, वह मैं ही हूँ। इन सभी अवस्थाओं में मात्र मुझे छोड़कर स्वयंभू अवस्था किसी की भी नहीं है। मैं इतना ही नहीं, इससे भी अधिक व्यापक हूँ।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥13॥

अर्थ

मैं ही पृथ्वी को पूरी तरह प्रभावित कर अपने ओज से प्राणियों को धारण करता हूँ, और रस से ओत-प्रोत चन्द्रमा होकर वनस्पतियों का पालन-पोषण कर उन्हें पुष्ट करता हूँ।

व्याख्या

प्रभु बतला रहे हैं कि वे पृथ्वी को धारण किये हुए हैं, जहाँ सभी प्राणियों का निवास है। इस सन्दर्भ में पृथ्वी यह भूमि नहीं, बल्कि व्यक्त प्रकृति या व्यक्त

सृष्टि है। इस व्यक्त प्रकृति की अवस्था के अन्तर्गत सभी प्राणी एक रूप विशेष को धारण कर अपना एक विशेष परिचय प्राप्त करते हैं। व्यक्त अवस्था में स्वयं प्रभु सभी प्राणियों को धारण करते हैं। भूतों को भी धारण करते हैं। सृजन कार्य में भूतों की आवश्यकता होती है। इनके बिना सृजन कार्य सम्भव नहीं है। आकाश तत्त्व का अपना महत्त्व एवं अस्तित्व है। आकाश में वायु तत्त्व समाया हुआ है, वायु में अग्नि तत्त्व समाया हुआ है, अग्नि में जल तत्त्व समाया हुआ है और जल में पृथ्वी तत्त्व समाया हुआ है। ये सभी एक-दूसरे के पूरक एवं अन्तर्सम्बद्ध हैं। भूतों को धारण करने का मतलब यह कि विकास की प्रत्येक अवस्था में जिस तत्त्व को जिस प्रकार की शक्ति चाहिए, उस प्रकार की शक्ति स्वयं प्रभु बनते हैं और शक्ति बनकर उस तत्त्व के अस्तित्व का परिचय देते हैं। पृथ्वी तत्त्व का अलग, जल का अलग, अग्नि का अलग, वायु का अलग तथा आकाश का अलग अस्तित्व है और इनके गुण, इनकी शक्ति ईश्वरीय है।

वनस्पति में भी प्रभु सोम रूप धारण करते हैं। सोम वास्तव में जीवन रस है, सुरा नहीं। जिस प्रकार प्राण जीवनी-शक्ति है, ठीक उसी प्रकार अपने अन्दर के सोम के कारण हम जीते हैं। जीवनी शक्ति का प्रवाह, जो सृष्टि में होता है, चाहे उसे प्राण कहिये, मन कहिये या और कुछ कहिये, सोम है। यह भी कहा जाये कि मन से रस को प्राप्त कर इन्द्रियाँ पुष्ट बनती हैं। अगर मन विरक्त हो जाये, तो केवल एक तत्त्व की अनुभूति होती है, वह है ईश्वर तत्त्व। यह जीवनी-शक्ति केवल प्राणियों में नहीं, स्थावर, वनस्पति जैसे तत्त्वों में भी है। इनकी जीवनी-शक्ति के विकास की प्रक्रिया को कहते हैं सोम।

एक पौधा बीजावस्था से उत्पन्न होकर बड़ा होता है और वृक्ष बनता है। वह वृक्ष मनुष्य या अन्य प्राणियों की तरह गतिशील तो नहीं, फिर भी उसमें जीवनी-शक्ति है। जिस पदार्थ में जीवन की गत्यात्मकता नहीं है, उसमें प्रभु जीवनी-शक्ति का रूप धारण करते हैं। जीवन की गत्यात्मकता और उमंग होती है–थल प्राणियों, जल प्राणियों और नभ प्राणियों में। इनके अतिरिक्त भी जो स्थितियाँ हैं, उनमें भी प्रभु ही हैं।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥14॥

अर्थ

मैं ही सभी प्रकार के प्राणियों के शरीर को माध्यम बनाकर जठराग्नि के रूप में, प्राण एवं अपान से अच्छी तरह युक्त होकर चर्व्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य–इन चार तरह के अन्नों को पचाता हूँ।

व्याख्या

'अहं वैश्वानरो भूत्वा'–माण्डूक्य तथा अन्य उपनिषदों में वैश्वानर की परिभाषा है, "वह पुरुष जो जाग्रत अवस्था का अनुभव तथा निर्देशन करता है।" जाग्रत अवस्था में जिन-जिन तत्त्वों का, विचारों का, पदार्थों और रूपों का अनुभव मनुष्य करता है, वे सब प्रभु पर आश्रित हैं और प्रभु ही उनके स्रोत हैं।

'प्राणापान समायुक्तः'–प्राण और अपान से युक्त होकर। प्राण और अपान दो ऐसी शक्तियाँ हैं, जिनका पारस्परिक मिलन कभी नहीं होता है। अपान अधोगामी शक्ति है तथा प्राण ऊर्ध्वगामी। सामान्य रूप से इनका मिलन शरीर में सम्भव नहीं होता, क्योंकि इन दोनों का प्रवाह एक-दूसरे से अलग, भिन्न दिशाओं में हो रहा है। एक में प्रवृत्ति और दूसरे में निवृत्ति, एक में जन्म और दूसरे में प्रयाण, एक में आकर्षण और दूसरे में विकर्षण का अनुभव व्याप्त है। श्वास के रूप में भी अन्दर जाने वाली श्वास है प्राण और बाहर जाने वाली है अपान। वैश्वानर अवस्था में प्राण और अपान के रूप में, जन्म और प्रयाण के रूप में, आकर्षण और विकर्षण के रूप में प्रभु की शक्ति समाहित है।

'देहमाश्रितः'–देह का सहारा लेकर मैं वैश्वानर के रूप में संसार में व्याप्त हूँ। जो जगत् दृश्य तथा जाग्रत है, उसकी अनुभूति जाग्रत अवस्था में ही होगी। जो जगत् स्वप्न तुल्य है, उसकी अनुभूति स्वप्नावस्था में होगी और जो सुषुप्तिमय है, उसकी अनुभूति सुषुप्तावस्था में ही होगी। जाग्रत अवस्था में स्वप्न और सुषुप्ति लोकों में नहीं जा सकते हैं। ऐसा करने के लिए उस प्रकार की चेतना का होना आवश्यक है। देह, जो प्रभु की शक्ति का आश्रय है–एक आकार, नाम, रूप और गुण की सीमा में बँधी हुई है। नाम, रूप एवं गुण को अनन्त नहीं कह सकते, क्योंकि उनकी अपनी सीमा है, आदि और अन्त है। इन सबका एक प्रारम्भ और एक अन्त है। अन्त और आरम्भ का अनुभव देहाश्रित वैश्वानर की स्थिति है, और इस अनुभव को प्राप्त करने के लिए शरीरधारी होना जरूरी है।

'पचाम्यन्नं चतुर्विधम्'–चार प्रकार के अन्नों को मैं पचाता हूँ। भूख लगने पर हम खाना खाते हैं। खाने के बाद तृप्ति की स्थिति आती है। वह तृप्ति की स्थिति है अन्न पचाने की अवस्था। इस श्लोक को प्राय: शारीरिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया गया है, इसीलिए व्याख्याकारों ने सोचा कि चार प्रकार के अन्न क्या हो सकते हैं–एक तो चर्ब्य है, जिसे चबाकर खाया जाए; दूसरा भोज्य है, जिसे निगला जाए; तीसरा लेह्य हैं, जिसे चाटा जाए, और चौथा है चोष्य, जिसे चूसा जाए। अन्न ग्रहण करने की चार विधियाँ होती हैं। पानी को निगला जाता है, अत: वह भोज्य है। चावल और रोटी भक्ष्य हैं, उन्हें चबाया जाता है। टॉफी चोष्य तथा आइसक्रीम लेह्य श्रेणी की है। शारीरिक दृष्टि से देखने के कारण व्याख्याकारों ने उपर्युक्त चार प्रकार के भोजनों का वर्णन किया, जिससे शरीर को तृप्ति मिलती है। वह अग्नि जब शान्त होती है, तब मनुष्य तृप्त, सन्तुष्ट होता है।

इस श्लोक में अग्नि शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, वैश्वानर और पाचन शब्दों के प्रयुक्त होने के कारण केवल एक अन्दाज लगाया गया है। अभी यह मानकर चलें कि अग्नि शब्द का नहीं, वैश्वानर का प्रयोग हुआ है। वैश्वानर को पाचन कार्य से जोड़ने से वैश्वानर की तृप्ति होती है। वैश्वानर की तृप्ति कैसे हुई? एक शरीर की तृप्ति कितने प्रकार से होती है? प्रथम तृप्ति है इन्द्रियों की, द्वितीय बुद्धि की, तृतीय भावना की और चतुर्थ अतीन्द्रिय है। इन्द्रियों, विचारों, भावनाओं तथा अतीन्द्रिय स्त्रोतों से सुख प्राप्त होता है। अत: तृप्ति की ये चार स्थितियाँ है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के माध्यम से भी तो तृप्ति मिलती है और प्रभु इन्हें पचा भी लेते हैं, जो एक साधारण मानव नहीं कर सकता।

कुण्डलिनी योग की मान्यता है कि मानव शरीर में तीन प्रमुख प्राणवाही नाड़ियाँ हैं–इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। इड़ा का सम्बन्ध है चन्द्र से, मन से। पिंगला का सम्बन्ध है सूर्य से, प्राण से। सामान्यत: इन दोनों को पहले जाग्रत करने का प्रयास किया जाता है। इनकी जागृति से सुषुम्ना स्पन्दित होती है और सुषुम्ना की जागृति में मन का कोई भी अनुभव मानस पटल पर नहीं आता है। सुषुम्ना जागृति के बाद मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का व्यक्तिगत अस्तित्व नष्ट हो जाता है। सुषुम्ना मार्ग में कुण्डलिनी शक्ति योग, मिलन या सायुज्य की ओर बढ़ती है। कुण्डलिनी शक्ति व्यक्त प्रकृति या शक्ति का प्रतीक है, जो मूलाधार में, पृथ्वी तत्त्व में सुषुप्तावस्था, अज्ञान की अवस्था में पड़ी हुई

है। उस शक्ति का उत्थान होने पर और परमात्मा के साथ मिलन होने पर मनः चतुष्टय की जितनी भी अवस्थायें हैं, समाप्त हो जाती हैं। इस समापन कार्य, प्रक्रिया या अवस्था को ही यहाँ पर पचाने का नाम दिया गया है।

प्रभु ने इस छोटे से श्लोक में बहुत-सी बातें कह दी हैं, पर एक बात को ध्यान से समझना आवश्यक है। यदि किसी विचार बिन्दु को शारीरिक दृष्टि से देखेंगे, तो वैसी ही समझ; मानसिक रूप से देखेंगे, तो वैसी ही समझ, और आध्यात्मिक दृष्टि से देखेंगे, तो उससे सम्बद्ध अर्थ स्पष्ट होगा। जीवात्मा के ये सभी क्षेत्र मिलकर एक शरीर रूप धारण करते हैं। गीता में भौतिक शरीर की नहीं, मानव व्यक्तित्व की चर्चा की गयी है। व्यक्तित्व में भौतिक शरीर के साथ-साथ मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि सभी तो सम्मिलित हैं ही, व्यवहार भी है, और गुण भी। जितने तत्त्वों के मेल से यह शरीर बना है, उनमें से अगर एक भी तत्त्व हट जाये, तो शरीर नहीं रहेगा। अस्तित्व की सम्पूर्णता का नाम ही शरीर है। प्रभु ने अस्तित्व की सम्पूर्णता को अपना माध्यम बनाया है।

वैश्वानर अवस्था से शरीर या मन में शक्ति का अनुभव कर सकते हो, उसके परिणाम को देख सकते हो, लेकिन शक्ति जाग्रत हो और परिणाम को नहीं देख सको, तो वह अतीन्द्रिय अवस्था है। अतीन्द्रिय अवस्था में मात्र शक्ति का आभास होगा, क्रिया और परिणाम का नहीं। संसार में प्राण, मन, वाणी और पाचन, अर्थात् तृप्ति के पीछे प्रभु का ही हाथ है, उन्हीं की निर्देशिका शक्ति, उन्हीं की क्रिया और उन्हीं का परिणाम है। सबके मूल कारण वही हैं। प्रभु कहते हैं कि प्राणियों में प्राण और अपान का रूप लेकर, जीवनी-शक्ति बनकर चार प्रकार की क्रियायें करता हूँ, जिनसे मनुष्य को तृप्ति मिलती है।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो-
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो-
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥15॥

अर्थ

मैं ही सभी प्राणियों के हृदय में अच्छी तरह स्थित हूँ। मेरे द्वारा ही स्मरणशक्ति एवं ज्ञानशक्ति का जागरण होता है और संशयों की समाप्ति

होती है। सभी वेदों द्वारा मुझे ही जानने योग्य बताया गया है। वेदों का कर्ता और ज्ञाता मैं ही हूँ।

व्याख्या

प्रभु कहते हैं कि सभी प्राणियों के हृदय में उनका ही निवास है, उनके द्वारा स्मरणशक्ति और ज्ञानशक्ति का जागरण होता है और संशयों की समाप्ति होती है। इसका यही मतलब है कि स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय निवारण) की लीला उन्हीं के द्वारा, उन्हीं की प्रेरणा से होती रहती है। जीव स्वयं में एक स्वतन्त्र सत्ता होने के बावजूद उन्हीं की प्रेरणा के अधीन रहकर अपोहन अवस्था को प्राप्त करता है तथा संशय की उत्पत्ति होती है, स्मृतियों को प्राप्त करता है, बीती हुई घटनाओं को याद करता है और ज्ञानशक्ति की प्राप्ति होती है।

प्रभु ने आरम्भ में वृक्ष-मूल और वृक्ष की शाखाओं की चर्चा की। मूल में ईश्वरीय शक्ति है और वृक्ष की शाखाएँ प्राणी जीवन के विभिन्न अनुभव हैं, चेतना की जागृति की विभिन्न अवस्थायें हैं, जीवन अनुभवों का विस्तार है। आत्मा या जीवनी-शक्ति वृक्ष मूल में स्थित है। वृक्ष की शाखाओं, पत्तों, फूलों और फलों में आत्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं। मूल को अव्यक्त पुरुष की उपाधि और पत्ते-फूल-फल को व्यक्त पुरुष की उपाधि दी गयी है। व्यक्त पुरुष का सम्बन्ध उस पुरुष से है, जो सांसारिक बन्धनों से प्रभावित और त्रिगुणात्मक प्रकृति के बन्धनों में जकड़ा हुआ, माया में पड़कर अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया है।

अपने वास्तविक स्वरूप को भूलना बहुत ही आसान है, स्वप्नावस्था में भी मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। स्वप्न में कोई मारने आ रहा है, देखकर स्वप्न में भय की उत्पत्ति होती है। उस समय मैं स्वप्न देख रहा हूँ का ज्ञान नहीं रहता। जिस प्रकार से स्वप्नावस्था में भय का अनुभव होता है, उसी प्रकार हर्ष, शोक और विषाद का भी अनुभव होता है, सभी प्रकार के इन्द्रियानुभव प्राप्त होते हैं। ठीक इसी प्रकार माया के अधीन, प्रकृति के अधीन और विषयों के अधीन जीवात्मा विभिन्न अनुभव प्राप्त करती है। जीव के देह धारण करने से तो उसे एक अलग परिचय की प्राप्ति होती है। जब जीव देह धारण नहीं करता, तब भी उसका एक अलग परिचय बना रहता है, जो उसका अव्यक्त रूप या अस्तित्व का मूल रूप है। ईश्वर ही तो उस जीव के भीतर उसके व्यक्त और अव्यक्त रूपों में जीवनी-शक्ति के रूप में स्थित हैं।

प्रभु कहते हैं कि जब जीव व्यक्तावस्था में रहता है, तो मेरे प्रभाव के कारण ही उसके अन्दर अपोहन की स्थिति आती है, संशय उत्पन्न होते हैं, द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं। वह वास्तविकता तथा भ्रान्ति के बीच, ज्ञान और अज्ञान के बीच भटकता रहता है। इन सब को मेरी ही एक क्रिया के रूप में देखो, क्योंकि स्मृति और अपोहन के रूप में इनके भीतर बैठी हुई शक्ति, इनके भीतर बैठी हुई प्रेरणा मैं ही हूँ।

स्मृति लौकिक और आत्मिक भी हो सकती है, क्योंकि स्मृति के द्वारा ज्ञान को आधार मिलता है। आग को न छूना, यह जानकारी स्मृति रूप में है। वह स्मृति क्या है? अगर आग को छुएँगे तो हाथ जल जाएगा। इस स्मृति के साथ ज्ञान भी जुड़ा हुआ है, जो वास्तविक है। स्मृति और ज्ञान में ज्यादा भेद नहीं होता, जो ज्ञान पूर्व से प्राप्त है, उसे ही स्मृति के माध्यम से प्रकट किया जाता है। स्मृति आधारित है अनुभव पर, संशय, द्वन्द्व और अपोहन पर। एक प्राणी के जीवन में ये तीन अवस्थाएँ हैं–अपोहन, स्मृति और ज्ञान की।

प्रभु कहते हैं कि मैं वेदों का कर्ता हूँ– *'वेदान्तकृत'*। ज्ञान की अन्तिम सीमा भी मैं ही हूँ। वेदान्त शब्द का सन्धि-विच्छेद होगा–वेद+अन्त, अर्थात् ज्ञान का अन्त, ज्ञान का सार। वेद शब्द बना है 'विद्' धातु से, जिसका मतलब होता है जानना। जहाँ तक मनुष्य और जीव की जानने की क्षमता है तथा उसके परे जो परा ज्ञानावस्था है, वह ईश्वर ही है। *'वेदवित्'*–उस ज्ञान को, उस सत्य को ठीक-ठीक जानने वाला ईश्वर ही है। यहाँ मनुष्य जीवन की एक ऐसी अवस्था की चर्चा की गयी है, जिसमें सब-कुछ मनुष्य की समझ-बूझ पर आधारित है। मनुष्य की समझ ही उसके जीवन का मूल शस्त्र है, जिसके द्वारा वह सभी प्रकार के भौतिक, भावनात्मक, विचारात्मक, आत्मिक और आध्यात्मिक कार्य करने में सक्षम होता है। इस अवस्था में सांसारिक और ब्राह्मी, दोनों प्रकार के ज्ञान प्राप्त हैं।

शास्त्रों में भी यही विशेषता दिखलायी देती है। जो व्यक्ति उन्हें आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखना चाहे, वह आध्यात्मिक दृष्टिकोण से उन्हें समझता है; जो उन्हें भौतिक दृष्टिकोण से देखना चाहे, उन्हें भौतिक दृष्टिकोण से समझता है। हमारे ग्रन्थों में कहीं पर भी कोई ऐसी पंक्ति नहीं, जिसे कहा जाए कि यह भौतिक है और यह आध्यात्मिक। दोनों प्रकार के अर्थ लगा सकते हैं। कुछ लोग वेदों में खगोल ज्ञान प्राप्त करते हैं–नक्षत्रों के स्वरूप, दूरी, व्यास और गोलाई आदि। कुछ वेदों से ज्योतिष, कुछ उसमें कृषि, भौतिक विज्ञान तथा गणित से

सम्बन्धित सिद्धान्त और विचारधाराएँ पाते हैं। ये सभी चीजें उसमें हैं अवश्य, और इन समस्त चीजों में आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध और वास्तविकता का एक ज्ञानांश छिपा हुआ है। लेकिन यह ज्ञान निर्भर है विश्लेषण या प्रतिपादन के तरीके पर। जीव द्वारा जितना भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, चाहे शारीरिक हो या आध्यात्मिक, और उनका माध्यम चाहे मन हो या बुद्धि, चित्त हो या अहंकार, इन्द्रियाँ हों या विचार, अध्ययन हो या अनुभव–वे सभी एक ही व्याख्या के अन्तर्गत आते हैं, और वह व्याख्या है 'वेद', अर्थात् जानना। वेद+अन्त–इसके बाद की भी जो ज्ञान की अवस्था है, *'वेद्य:'*–वह ईश्वर ही है। वेद या जानने के परिणामस्वरूप प्रभु ही मनुष्य जीवन में अपोहन, स्मृति या ज्ञान के रूप में दिखलायी देते हैं।

प्रभु कहते हैं कि देखो अर्जुन, यह सब कुछ तो मैं ही हूँ, लेकिन संसार में दो भाव होते हैं।यह संसार दोरंगा है–एक रंग है नाशवान, परिवर्तनशील और एक रंग है अविनाशी, जो कभी नहीं बदलता। अश्वत्थ, परिवर्तन की प्रक्रिया अविनाशी है, इसका कभी नाश नहीं होता। पत्ते, फूल और फल हैं नाशवान, क्योंकि वे उत्पन्न होते हैं, गिरते हैं और बदलते रहते हैं। इन दोनों अवस्थाओं में मेरी स्थिति और मेरी अनुभूति अलग-अलग है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥16॥

अर्थ

संसार में दो प्रकार के पुरुष हैं–नाशवान और अविनाशी। सभी व्यक्त भूतादि नाशवान हैं, किन्तु रहस्यमय रूप से उसमें छिपा रहने वाला (आत्मा) अविनाशी है।

व्याख्या

पुरुष का क्या अर्थ होता है? *'पुरीशेते इति पुरुष:'*–पुरी का अर्थ है नगर और शेते का अर्थ होता है सोया हुआ। अत: नगर में जो सोया हुआ है, वह पुरुष है। दो प्रकार के पुरुष होते हैं–एक है क्षर और दूसरा है अक्षर। अगर पुरुष का सम्बन्ध यहाँ मात्र आत्मा से लगाया जाए, तो वह एक प्रकार का ही पुरुष कहलायेगा, दो प्रकार के नहीं। आत्मा का रूप हमेशा एक-सा होता है। अणु-

परमाणु का रूप भी हमेशा एक जैसा रहता है, चाहे वह पत्थर में हो, चाहे लकड़ी में, चाहे पत्ते में हो या किसी शरीर में हो। तो यहाँ दो पुरुष क्यों कहा गया? और एक को कहा गया नाशवान तथा दूसरे को कहा गया अविनाशी। जिसे कहते हैं अविनाशी, कूटस्थ, रहस्यमय, गहरायी में छिपा हुआ, वह है आत्मा। और जिसे कहते हैं नाशवान, वह है भूत तत्त्व, जिनके संयोग से सृष्टि क्रिया सम्पन्न होती है।

दो पुरुष हैं, एक है आत्मा और एक है वह शरीर जो पञ्च तत्त्वों से बना है। पञ्च तत्त्वों की चेतना, शक्ति तथा सामर्थ्य के अनुसार यह शरीर कार्य करता है, और कूटस्थ आत्मा इस शरीर के माध्यम से भोग का अनुभव करती है। यहाँ कार और कार चालक का उदाहरण दिया जा सकता है। ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। कार धातुओं से बनी है, लेकिन उसके भीतर बैठे हुए मनुष्य का शरीर धातुओं का नहीं, भिन्न है। जब तक मनुष्य कार में नहीं बैठता, गाड़ी चलती नहीं। मनुष्य गाड़ी में बैठकर 'इग्निशन' (अहंकार) ऑन करता है, गियर (बुद्धि) बदलता है, क्लच (मन) दबाता है, तब गाड़ी आगे बढ़ती है– कभी प्रथम गियर में, कभी द्वितीय गियर में, कभी तृतीय गियर में और कभी चतुर्थ में।

यह शरीर भी एक गाड़ी है, जिसका निर्माण पञ्च तत्त्वों से हुआ है। यह नाशवान है, परिवर्तनशील है। इस गाड़ी में बैठकर जीव इसका संचालन कर रहा है। चालक या जीवात्मा में यह क्षमता है कि जब गाड़ी काम न करे, तो इससे उतर कर दूसरी गाड़ी में चढ़ जाए। कभी जीव एम्बेसडर में, कभी मारुति में, तो कभी टाटा ट्रक में चढ़ता है। जीवात्मा को पुरुष क्यों कहा गया है? जीवात्मा जब तक देह का संचालन करती है, तब तक पुरुष है। शरीर की तुलना भी एक नगर के साथ की गयी है– *'नवद्वारे पुरे देही।'* यह देह नौ दरवाजों वाला एक नगर है और ये नौ दरवाजे हैं इन्द्रियाँ-आँख, नाक, कान, मुँह, गुदा, इत्यादि। जीवात्मा का प्रवेश शरीर रूपी पुर में होने से रूप होता है पुरुष का।

जितने भी प्राणी, जितने भी भूत हैं, उनके भीतर की शक्ति स्वयं को व्यक्त करने के लिए एक अवस्था को अपनाती है, स्वयं को निखारने के लिए एक रूप को अपनाती है। रूप अपनाने पर भूत का, प्राणी का एक शरीर हो जाता है। उदाहरणार्थ, जल एक तत्त्व है, लेकिन इसका भौतिक रूप है तरल पदार्थ। अग्नि एक तत्त्व है, उसका भौतिक रूप है उष्मा, ताप। तत्त्वों के भौतिक रूप हैं, गुण हैं, क्षमता है और चैतन्य अवस्था भी है।

'क्षर: सर्वाणि भूतानि' अर्थात् जो प्रकृति आश्रित हैं, वे सभी तत्त्व नाशवान हैं। और अविनाशी वह है जो प्रकृति द्वारा निर्मित, पञ्चभूतों द्वारा निर्मित शरीर का उपयोग करता है। मूलत: दो रूप हैं–नाशवान और अविनाशी। प्राकृतिक और कूटस्थ–समस्त संसार के सभी प्राणियों का नाश होता है। जीव की भी परिणति होती है। नाश का सम्बन्ध परिवर्तन से है–किसी एक अवस्था को छोड़ना, दूसरी अवस्था को अपनाना।

इस संसार में दो प्रकार की स्थितियाँ पायी जाती हैं–एक है जड़ और दूसरी है चैतन्य। चैतन्य अवस्था अपने आप में पुरुष है और इन दोनों के भीतर ईश्वर व्याप्त है–प्रेरणा के रूप में, ज्ञान के रूप में। साधना-मार्ग में जड़ के अनुभव को चैतन्य के अनुभव से अलग किया जाता है। परन्तु सामान्य जीवन में मनुष्य जड़ और चैतन्य के अनुभवों को अलग नहीं कर सकता। जब इन दो अनुभवों को साधक अलग करता है, तब वह ज्ञानी कहलाता है। उसने जड़ को चेतन से अलग कर दिया, अविनाशी में अपने को स्थित कर लिया, क्षर की चिन्ता छोड़ दी।

प्रभु बतलाते हैं कि तुमने चाहे जैसा रूप देखा, चाहे जड़ रूप देखा हो या चैतन्य रूप,सभी में मैं ही हूँ, वेद के रूप में, ज्ञान के रूप में, परम ज्ञान के रूप में।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥17॥

अर्थ

(सोलहवें श्लोक में वर्णित दो तरह के पुरुष तो निम्न और मध्यम श्रेणी के हैं) किन्तु उत्तम श्रेणी का पुरुष तो दूसरा ही है, जो तीनों लोकों को पूरी तरह प्रभावित कर उनका पालन-पोषण करता है। उसे ही अविनाशी, शासक (नियन्ता) तथा (सर्वोपरि) आत्मा या परमात्मा के रूप में वर्णित किया गया है।

व्याख्या

उत्तम पुरुष को ईश्वर या परमात्मा के नाम से सम्बोधित किया जाता है, क्योंकि वह क्षर, अर्थात् अपरा प्रकृति और अक्षर, अर्थात् परा प्रकृति से भिन्न है। यही पुरुषोत्तम, परमात्मा, ईश्वर या अव्यय दोनों का मूल है। यह पुरुषोत्तम,

चिन्मय, अनादि और शाश्वत तत्त्व है। क्षर और अक्षर रूप में अपरा प्रकृति और परा प्रकृति, जीवात्मा और भूत का वर्णन था। पञ्च महाभूतों का क्षेत्र अपरा प्रकृति के अन्तर्गत है। जीव का भी कर्मक्षेत्र होता है अपरा और परा अवस्था में, लेकिन प्रकृति के अन्तर्गत। इसी कारण तो वह जीव कहलाता है। यह तो स्पष्ट है कि जीव को अविनाशी, ईश्वर का अंश और सनातन माना गया है। फिर भी उसका नाम दिया गया है जीव, क्योंकि जब तक वह एक रूप धारण करके अपरा प्रकृति और परा प्रकृति के क्षेत्र में क्रियाशील रहता है, उसका स्वरूप जीव का ही रहता है।

तन्त्र में भी सर्वप्रथम ईश्वर तत्त्व का स्थान आता है। तत्पश्चात् ईश्वर तत्त्व की परिणति होती है विद्येश्वर रूप में। अपरा और पराज्ञान को सनातन अवस्था में धारण करते हुए विद्येश्वर रूप है, तब विद्येश्वर सनातन रहते हुए भी जीव रूप धारण करता है। यहाँ पर दो भेदों का ज्ञान हो जाता है; एक भेद या सीमा है अपरा अवस्था की और दूसरी सीमा है परा अवस्था की।

चिन्मय तत्त्व, परमात्मा या ईश्वर क्षर और अक्षर अवस्थाओं से परे है, अत: इन अवस्थाओं से उत्तम है। वह तीनों लोकों में व्याप्त है– *'लोकत्रयमाविश्य'*। ये तीनों लोक जीवन की, सृष्टि की, अनुभूति की, चेतना की तीन विभिन्न अवस्थाएँ हैं। तीनों लोकों–भू लोक, भुव: लोक, स्व: लोक–में यह चेतना, यह शक्ति व्याप्त है। चेतना के सन्दर्भ में चेतन, अवचेतन, अचेतन के पीछे जो शक्ति है, जो इन अवस्थाओं में जाग्रत द्रष्टा का रूप धारण करती है; ईश्वरीय तत्त्व है, ईश्वरीय शक्ति है। स्थूल-सूक्ष्म-कारण के सन्दर्भ में उनके भीतर छिपी हुई मूल अवस्था ईश्वरीय तत्त्व है। धार्मिक सन्दर्भ में पाताल, पृथ्वी और स्वर्ग जीवन की जो शक्ति है, कर्ता है, वह भी ईश्वरीय शक्ति ही है। मनुष्य चेतना की तीन अवस्थाओं–जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, के पीछे भी ईश्वरीय शक्ति है।

क्षर नश्वर है, नाशवान है, परिवर्तनशील है। क्षर अनुभवों का कायापरिवर्तन होता है। अक्षर-जीव भी परिवर्तनशील है। क्यों? इसलिए कि वह जीव विभिन्न विषयों से, इन्द्रिय भोगों से, पदार्थों से, परिस्थितियों से प्रभावित होता रहता है। कभी आसक्ति के फेरे में पड़कर, कभी मोह-बन्धन में पड़कर, कभी और किसी अवस्था में स्वयं को पाकर उस अवस्था के अनुरूप एक रूप धारण करता है। इसलिए जीव सनातन होते हुए भी परिवर्तनशील है। अगर जीव परिवर्तनशील नहीं होता तो उसे सतत् यह ज्ञान, यह अनुभूति रहती कि मैं इन

सबसे भिन्न हूँ। लेकिन वह ज्ञान तो है नहीं। व्यक्ति तो किसी एक विचार, कर्म और भावना के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

क्षर और अक्षर परिवर्तनशील माने गये हैं। क्षर अवस्था में चेतना जड़ अवस्था में रहती है। अक्षर अवस्था में चेतना की चेतन अवस्था रहती है। चेतन अवस्था में सूक्ष्म स्तरों का अनुभव होता है। जड़ अवस्था में चेतना की स्थिति का अनुभव होता है, लेकिन ईश्वरीय तत्त्व में मात्र एक ही चेतन प्रवाह का बोध होता है और वह सनातन है। उसी अवस्था को पुरुषोत्तम कहा गया है। यद्यपि संसार में वही अव्यय ईश्वरीय तत्त्व व्याप्त है, फिर भी उसे संसार से भिन्न समझना पड़ता है। भिन्न समझना चाहिए भी। वह सम्पूर्ण संसार में व्याप्त है, लेकिन संसार से भिन्न भी है।

हम कहते हैं कि प्रभु संसार में हैं, हम यह नहीं कहते कि संसार प्रभु है। संसार को ईश्वर रूप में कोई देखता नहीं है, लेकिन ईश्वर को संसार में देखा जा सकता है। इसे थोड़ा ठीक से समझना होगा। तुम प्रभु हो, ऐसा नहीं, प्रभु तुममें हैं, ऐसा कहते हैं। ईश्वर हमारे भीतर विद्यमान होते हुए भी हमारी एक भेद दृष्टि रहती है, अनुभवहीन होने के कारण। अगर कहें कि संसार ही प्रभु है, तो गलत होगा, क्योंकि हम यह विचार बिना अनुभूति के व्यक्त कर रहे हैं। जहाँ अनुभूति नहीं, वहाँ चिन्तन की अवस्था मात्र बौद्धिक और विचारात्मक रहती है। अनुभवात्मक अवस्था को प्राप्त करने के लिए साधना की आवश्यकता पड़ती है। एक योगी भी सबसे पहले अपने को शुद्ध करता है और उसके बाद ही परमात्मा को जान सकता है। जीवात्मा की शुद्ध अवस्था भी होती है और अशुद्ध अवस्था भी। त्रिगुणात्मक प्रकृति के बन्धन में पड़कर विषय-भोगों से अपना तादात्म्य स्थापित करना ही जीवात्मा की अशुद्ध अवस्था है। जीवात्मा की शुद्ध अवस्था है त्रिगुणात्मक प्रकृति से अलग होकर स्वयं में विद्यमान ज्ञान की प्राप्ति। ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् जब जीवात्मा, ब्रह्माण्डीय स्तर पर अपरा, परा और उससे भी उच्च स्तर पर ईश्वर तत्त्व के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने लगती है, तब वह परमात्मा में समाहित हो जाती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में साधना की आवश्यकता होती है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥18॥

अर्थ

चूँकि मैं नाशवान (व्यक्त जीवादि) की सीमा के परे और अविनाशी (आत्मा) से भी श्रेष्ठ हूँ, अत: संसार और वेदों में उत्तम पुरुष के नाम से प्रसिद्ध हूँ।

व्याख्या

प्रभु यहाँ पर स्वयं निष्कर्ष दे रहे हैं। प्रभु द्वारा कही गयी बातों का सार इस श्लोक में है। वे बतला रहे हैं कि मैं क्षर या नाशवान की सीमा से परे हूँ, अतीत हूँ, अविनाशी से भी श्रेष्ठ हूँ, इसलिए संसार में और वेदों में उत्तम पुरुष के नाम से प्रसिद्ध हूँ।

साधना के पश्चात् दो प्रकार के अनुभवों को प्राप्त करते हो–क्षर अनुभव और अक्षर अनुभव। इन दोनों प्रकार के अनुभवों को प्राप्त करो। जिनमें स्थूल दृष्टि से देखने की क्षमता है, उन्हें ईश्वर संसार में प्राप्त वस्तु के रूप में, पुरुष रूप में, तत्त्व रूप में दिखलायी देते हैं। जिनमें सूक्ष्म दृष्टि से देखने की क्षमता है, उन्हें ईश्वर सूक्ष्म तत्त्व के रूप में दिखलायी देते हैं। यह ईश्वर के विश्व रूप का अनुभव है। स्थूल दृष्टि से लोग ईश्वर को संसार में, क्षर में, नाशवान अवस्था में, अपरा प्रकृति में खोजते हैं। ईश्वर को उसमें देखने का, पाने का प्रयास करते हैं। जिन लोगों में सूक्ष्म दृष्टि है, वे ईश्वर को परा में प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। आत्म-चिन्तन, आत्म-विश्लेषण के माध्यम से आत्म-शक्ति को जाग्रत कर वे ईश्वरीय अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं। प्रभु कहते हैं कि मैं भू, भुवः, स्वः, स्थूल-सूक्ष्म-कारण लोकों में व्याप्त हूँ। फिर भी मेरी स्थिति इन लोकों से भिन्न है और इसलिए मैं लोकों में पुरुषोत्तम कहा जाता हूँ तथा वेदों द्वारा जानने योग्य परमात्मा के रूप में प्रसिद्ध हूँ।

प्रभु अर्जुन से कहते हैं कि विराट् स्वरूप को तुमने देखा और उपर्युक्त विचार को सुना, दोनों में कोई अन्तर नहीं है। जिस व्यक्ति में अनुभव करने की शक्ति एवं क्षमता जाग्रत हो गयी है, वह मुझे देखकर मुझमें समाहित हो सकता है, और सुनकर भी मुझमें समाहित हो सकता है। अर्जुन मुझे देखने से तुमको तृप्ति हुई है, किन्तु ज्ञान नहीं। अगर ज्ञान होता तो ग्यारहवें अध्याय के बाद ही तुम अपना धनुष उठा कर लड़ने के लिए तैयार हो जाते। पन्द्रहवें अध्याय तक तुम्हें उपदेश देने की आवश्यकता नहीं होती। लेकिन तुम्हें ज्ञान नहीं हुआ है। जिस मनुष्य को ज्ञान हो जाए, उसके कर्म का तौर-तरीका बदल जाता है।

अर्जुन ने पूछा कि आपके अनुसार जिसने आपको देख लिया, जान लिया, सुन लिया,आपसे निर्देश पाया, आपका साक्षात्कार किया, उसके कर्म दूसरे प्रकार के होते हैं। तो कृपा कर बताइये कि उसके कर्म किस प्रकार के होते हैं, वह क्या करता है, उसकी क्या विशेषता है?

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥19॥

अर्थ

हे भरतवंशी अर्जुन! इस प्रकार जो ज्ञानी व्यक्ति मुझे उत्तम पुरुष के रूप में जानता है, वह सर्वज्ञ सभी भावों से मुझे भजता है।

व्याख्या

यहाँ प्रभु जिस साधक की चर्चा कर रहे हैं, वह एक ऐसा विलक्षण व्यक्ति है, जो ईश्वर के रहस्य, उसकी उच्च अवस्था और पुरुषोत्तम रूप को जान-समझ गया है और उसी अनुरूप प्रभु की उपासना करता है। अर्थात् वह जीव ज्ञानी, सर्वज्ञ होकर समस्त भावों से प्रभु को भजता है। वह जीव अपने अज्ञान की स्थिति से निकल कर, देही का अभिमान त्याग कर, त्रिगुणात्मिका प्रकृति या अपरा प्रकृति के परे जाकर प्रभु में स्वयं को स्थापित करता है, उस समय वह जीव भी है और नहीं भी है, पर वह सर्वज्ञ हो जाता है।

प्रभु पुनः कहते हैं कि जीव मुझे सभी भावों से भजता है। सभी भावों का मतलब क्या? सभी भावों का सम्बन्ध यहाँ व्यक्तिगत भावना से नहीं, वात्सल्य भावना से नहीं, करुणा से नहीं, बल्कि देह-भाव, जीव भाव और आत्म-भाव से है–इन तीन भावों को प्रमुख माना गया है।

अभी हममें देह भाव है, इसमें भौतिकता का आभास होता है; जीव-भाव में 'मैं' का ज्ञान रहता है, और आत्म-भाव में उच्च चेतना का ज्ञान रहता है। प्रथम है सांसारिक ज्ञान और सांसारिक ज्ञान के साथ जुड़ा हुआ, द्वितीय 'मैं' का भाव और इनके साथ में जुड़ा हुआ, तृतीय 'आत्म-भाव'–इन तीनों को धारण करके मनुष्य प्रभु को भजता है।

भजने का तात्पर्य केवल ईश्वर का नाम लेने या स्मरण से नहीं है। भजने में उपासना की सिद्धि होती है। जीवन के प्रत्येक विचार, व्यवहार और कर्म

ईश्वर भजन में, ईश्वरोपासना में समाहित हो जाते हैं। सर्वज्ञ होकर भी जीव में उपासक का भाव बना रहता है और इस उपासक भाव में केवल देह-देही का नहीं, बल्कि ईश्वर के अनुभव को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥20॥

अर्थ

हे निष्पाप, भरतवंशी! ऐसा यह गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया है, इसको जानकर बुद्धिमान् और कृतार्थ हो जाता है।

व्याख्या

इस श्लोक को पढ़ने से, जिसमें प्रभु कहते हैं कि इस शास्त्र को जानकर 'बुद्धिमान् और कृतार्थ हो जाता है', अन्दाज लगाते हैं कि अर्जुन ने जरूर कुछ पूछा या कहा होगा, क्योंकि भगवान् कभी नहीं कहेंगे कि मैं जो कहता हूँ, उसे सुनकर तुम कृतार्थ हो जाओ। इसमें तो भगवान् का अहं-भाव दिखलायी देगा, जो कि उनमें नहीं है।

अर्जुन ने कहा होगा कि भगवान्! आपने तो ऐसी अच्छी-अच्छी बातें समझा दी हैं, गुप्त से गुप्त शास्त्र भी बतला दिये हैं, जिससे प्रकृति के वास्तविक रूप और आपके स्थान का परिचय मिला। प्रकृति का वास्तविक रूप है– *'ऊर्ध्वमूलमध:शाखम्'*, और आपका वास्तविक रूप है पुरुषोत्तम। ये सब सुन कर मेरे मन में प्रकृति और आपके स्वरूप के सम्बन्ध में जो भी दुविधा थी, वह नष्ट हो गयी और इसके लिए मैं अपने आपको धन्य एवं कृतार्थ मानता हूँ।

उत्तर में प्रभु कहते हैं कि अर्जुन! तुम्हारा कहना ठीक है। यह वास्तव में गुप्त शास्त्र है, *'इतिगुह्यतमं शास्त्रम्'*–अतिगोपनीय। इस ज्ञान का अनुभव करने वाले दुनिया में बहुत कम होते हैं। अगर सचमुच यह बात तुम्हारी समझ में आयी है, तो तुम बुद्धिमान् हो। मुझे खुशी है कि तुम कृतकृत्य हो गये हो। जो इसे जान ले, उसे कृतार्थ होना ही है, क्योंकि यह शिक्षा समस्त वेदों का सार है। वेद वाक्य हैं– *'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'*–इसका विश्लेषण *'ऊर्ध्वमूलमध: शाखम्'*–में है। इसलिए यह वेदों का सार है। यहाँ सभी प्रकार के पुरुषार्थ समाप्त हो जाते हैं।

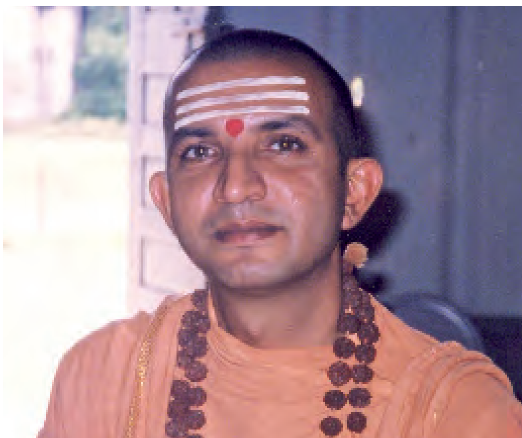
प्रभु ने अर्जुन को कुण्डलिनी की गोपानीयता बतलायी है। कुण्डलिनी उत्थान में निम्न से उच्च की ओर चेतना का विकास होता है। इस विकास क्रम में अश्वत्थ वृक्ष को काटना पड़ेगा। इसकी अधोगामी जड़ों को अनासक्ति रूपी, वैराग्य रूपी तेज धार वाली तलवार से काटना पड़ेगा। काटने के पश्चात् धीरे-धीरे ऊपर चढ़ोगे। चढ़ने की यह प्रक्रिया ध्यान-साधना के द्वारा सिद्ध हो सकती है। इसका कोई अन्य उपाय नहीं है। इसीलिए यह गुप्त-शास्त्र है। अगर तुम इसे समझ जाते हो, तो यह तुम्हारी बुद्धिमानी होगी और तब तुम्हें अवश्य ही कृतार्थ होना चाहिए।

इस अध्याय के अनेक विचार बिन्दु हो सकते हैं। एक कि ईश्वर ऊपर है और संसार नीचे। इसीलिए कहा गया कि मूल ऊपर है तथा संसार या उसकी शाखायें, पत्ते, फूल, फल नीचे। यह भी हो सकता है कि प्रभु अपनी सर्वव्यापकता को स्पष्ट करने के लिए इस प्रकार की चर्चा कर रहे हैं। साधनात्मक अर्थ भी लग सकता है कि उच्च, शुद्ध अवस्था से जिस निम्न, सीमित और संकीर्ण अवस्था को हमने प्राप्त किया है, वह उस उच्च, शुद्ध, अद्वैत से निम्न, अशुद्ध, द्वैत की स्थिति है। इसके परे जाने के लिए और पुनः उच्च, शुद्ध, अद्वैत की अवस्था को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पड़ेगा। यह विचार हो सकता है कि मात्र शक्ति की परिणाति के द्वारा मनुष्य पदार्थावस्था पारकर आत्म-तत्त्व को प्राप्त कर सकता है। परन्तु व्यक्ति जिस प्रकार का भी अर्थ लगाये, वह अधूरा ही रहेगा, क्योंकि उस अर्थ में भावों की अशुद्धि रहेगी। देह-भाव को शुद्ध बनाया, किन्तु जीव-भाव को शुद्ध न बना पाया। इन दोनों को शुद्ध बनाया, किन्तु आत्म-परमात्म भाव को न पहचान पाया। इसीलिए यह एक गुप्त, रहस्यमय शास्त्र है।

पुरुषोत्तम अवस्था को जानने के लिए मनुष्य को एक चिन्तन प्रक्रिया से गुजरना पड़ेगा, किन्तु पुरुषोत्तम अवस्था की जानकारी प्राप्त करने के लिए चिन्तन प्रक्रिया के अतिरिक्त श्रम-भाव भी होना चाहिए। किसी व्यक्ति को प्यास लगी हो और वह नल के पास खड़ा होकर पानी-पानी कहे, तो प्यास नहीं बुझेगी। नल सामने है, पानी सामने है, प्यासा देख रहा है, जानता है कि अगर पानी मुँह में चला जाए, तो प्यास बुझ सकती है। लेकिन स्वयं को असमर्थ बतलाकर पानी नहीं पी रहा है। पीना चाहता जरूर है, लेकिन असमर्थता के भाव के कारण ऐसा कर नहीं पा रहा है।

जब मनुष्य कोई काम करना नहीं चाहता, तो उसके लिए हजार बहाने, हजार तर्क करता है। लेकिन जब वह किसी चीज को चाहता है, तो उसकी प्राप्ति के लिए कठिन-से-कठिन परिस्थितियों का सामना करने के लिए तैयार रहता है। तो जब तक श्रम-भाव नहीं रहेगा, जिसे सामान्य भाषा में कहते हैं पुरुषार्थ, तब तक इस गोपनीय विद्या को, इस गुह्यतम विज्ञान को समझा नहीं जा सकता।





स्वामी निरंजनानन्द का जन्म छत्तीसगढ़ के राजनाँदगाँव में सन् 1960 में हुआ। जन्म से ही उनकी जीवन-दिशा उनके गुरु, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा निर्देशित रही। चार वर्ष की अवस्था में वे गुरु-सान्निध्य में रहने बिहार योग विद्यालय आये, जहाँ उनके गुरु ने योग निद्रा के माध्यम से उन्हें योग एवं अध्यात्म का गहन प्रशिक्षण प्रदान किया। सन् 1971 में वे दशनामी संन्यास परम्परा में दीक्षित हुए, तत्पश्चात् 11 वर्षों तक विभिन्न देशों की यात्राएँ कर उन्होंने अनेक कलाओं में दक्षता अर्जित की और विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में रहकर उनकी गहरी समझ प्राप्त की तथा यूरोप, ऑस्ट्रेलिया, उत्तर एवं दक्षिण अमरीका में अनेक सत्यानन्द योग केन्द्रों एवं आश्रमों की स्थापना की।

1983 में गुरु-आज्ञानुसार भारत लौटकर वे बिहार योग विद्यालय, शिवानन्द मठ तथा योग शोध संस्थान की गतिविधियों के संचालन में संलग्न हो गए। सन् 1990 में वे परमहंस-परम्परा में दीक्षित हुए और 1995 में स्वामी सत्यानन्द के उत्तराधिकारी के रूप में उनका अभिषेक किया गया। सन् 1994 में उन्होंने विश्व के प्रथम योग विश्वविद्यालय, बिहार योग भारती की तथा 2000 में योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट की स्थापना की। सन् 1995 में उन्होंने बच्चों के एक बृहत् योग आन्दोलन, बाल योग मित्र मण्डल का शुभारम्भ किया। मुंगेर में विभिन्न गतिविधियों का संचालन करने के अलावा उन्होंने दुनियाभर के साधकों का मार्गदर्शन करने हेतु व्यापक रूप से यात्राएँ कीं। सन् 2009 में उन्हें अपने गुरु से संन्यास जीवन का एक नया अध्याय शुरू करने का आदेश प्राप्त हुआ।

स्वामी निरंजनानन्द योग दर्शन, अभ्यास एवं जीवनशैली की गहन जानकारी और समझ रखते हैं तथा योग, तंत्र एवं उपनिषदों पर अनेक प्रमाणिक पुस्तकों के प्रणेता भी हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन परम्पराओं का सुन्दर सम्मिश्रण करते हुए वे इस समय मुंगेर में अपने गुरु के मिशन को आगे बढ़ाने के कार्य में संलग्न हैं।



SATYANANDA YOGA
BIHAR YOGA

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय वाङ्मय का अमूल्य रत्न है, जो मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष को समान रूप से आलोकित करता है। यह दो अभिन्न सखाओं की अन्तरंग वार्त्ता है, गुरु द्वारा शिष्य को दिया गया अमोघ जीवनमंत्र है तथा भक्त के प्रति भगवान की अहैतुकी कृपा है।

गीता पर अनेक टीकाएँ हैं। विषाद योग नामक पहले अध्याय, भक्ति योग नामक बारहवें अध्याय और पुरुषोत्तम योग नामक पन्द्रहवें अध्याय पर स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती की प्रस्तुत टीका जटिल दार्शनिक विवेचन नहीं, वरन् भवसागर की उत्तुंग लहरों में जूझते मानव की सहायता के निमित्त बढ़ा हाथ है। योग की पृष्ठभूमि में सरल भाषा, व्यावहारिक दृष्टि और मनोवैज्ञानिक युक्तियों की प्रस्तुति ने गीता के गूढ़ ज्ञान को सर्वसुलभ बना दिया है। नित्य अध्यवसाय के लिए उपयुक्त यह ग्रन्थ पग-पग पर साधक के विचारों, भावनाओं और कर्मों को उचित दिशा में प्रेरित कर शाश्वत सुख, शान्ति और आनन्द की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।



[bar code here]

ISBN : 978-93-81620-09-0